प्रकाशक—
श्री महावीर जयंति उत्सव समिति
७३, मल्हारगंज मार्केट,
इन्दौर

सम्पादक—
श्री नेमीचन्द जैन श्री स्वरूपकुमार गांगेय

प्रबन्ध सम्पादक—
श्री मिश्रीलाल सोनी

गति-क्रम

न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं,
न निरट्ठं न मम्मयम्।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा,
उभयस्सन्तरेण वा॥

अपने लिए, दूसरों के लिए और दोनों में से किसी के लिए भी पूछने पर पापयुक्त, निरर्थक तथा मर्मान्तक वचन न कहे।

दिट्ठं मियं असंदिद्धं,
पडिपुण्णं विय जियम्।
अयंपिरमणुव्विग्गं,
भासं निसिर अत्तवम्॥

आत्मार्थी को दृष्ट, परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट, अनुभूत, वाचालता रहित तथा किसी को भी उद्विग्न न करने वाली वाणी बोलनी चाहिये।

श्रमण संस्कृति

अंक ३ | चैत्रशुक्ल त्रयोदशी वी नि सं २४७६ | वर्ष ३

'दर्शन, ज्ञान, चरित्र'–त्रिवेणी, त्रिविध–सत्य–संगम !

'तन्मय' बुखारिया

धरा के नीचे है पाताल, गगन पर बसा हुआ है स्वर्ग,
बीच में अधर मनुज का अहम्,
न जिसका आदि, न जिसका अन्त, चिरन्तन गमन आगमन-क्रम,
इसी को कहते जीवन हम !

१

पाप का इधर, पुण्य का उधर
जिन्दगी दो कूलों के बीच,
सिन्धु-सी दूर मुस्करा रही
निगल जाने को आकुल मीच,
ठहरते बने, न चलना इष्ट, पथिक के सम्मुख दिग्-दिग् भ्रम !
धरा के नीचे है पाताल, गगन पर बसा हुआ है स्वर्ग,
बीच में अधर मनुज का अहम् !

२

फूल हैं पर शूलों से विद्ध,
सुरभि, पर अवरोधों से युक्त,
तृप्ति है, किन्तु तृषा के साथ,
प्राप्ति, पर दोनों कर उन्मुक्त,
विरह की श्वासें भरता हुआ जी रहा परिचय मिलन स मम।
धरा के नीचे है पाताल, गगन पर बसा हुआ है स्वर्ग,
बीच में अधर मनुज का अहम्!

३

कि आखिर क्यों किसलिए विमूढ
चेतना का यह अस्थि-समूह,
कि जिसके भीतर भरे अनंत
ज्ञान के अनगिन चक्रव्यूह?
दे चुका जो 'चौबीसों' बार चुनौती ईश्वर को सक्षम!
धरा के नीचे है पाताल, गगन पर बसा हुआ है स्वर्ग,
बीच में अधर मनुज का अहम्!

४

तत्त्व का भूला जीवन अर्थ,
अनर्थों में उलझा विश्वास,
तभी तो ऊर्ध्वमुखी चितना,
किन्तु प्रतिपल नीचे ही ह्रास।
आत्म की मूल प्रकृति को विवश किये जग-जड़ता का 'गुरुडम'!!
धरा के नीचे है पाताल, गगन पर बसा हुआ है स्वर्ग,
बीच में अधर मनुज का अहम्!

५

अरे ओ सपनों के सम्राट्!
प्राणियों में सर्वोच्च विधान!!
मुक्ति-बंधन-दोनों संकल्प,
कि तू अपने को तो पहचान!!!
'दर्शन, ज्ञान, चरित्र' त्रिवेणी, त्रिविध सत्य-संगम!
धरा के नीचे है पाताल, गगन पर बसा हुआ है स्वर्ग
बीच में अधर मनुज का अहम्!
न जिसका आदि, न जिसका अन्त, चिर तन गमन आगमन क्रम!
इसी को कहते जीवन हम!

भगवान महावीर

महात्मा भगवानदीन
मनस्वी चिन्तक,
तत्त्वदर्शी विद्वान,
लोकप्रिय विचारक

भरी जवानी में भरे घर और भरे-पूरे भण्डार को छोड़कर चल देने वाले यथानाम तथा गुण वर्द्धमान के बचपन के बारे में जो लिखा मिलता है, वह सुनने में बढ़ाकर लिखा गया-सा जान पड़ता है, पर असल में उनके भीतर जलती ज्वाला के सामने वह बढ़ाकर लिखा भी कम लिखा रह जाता है। राजपाट छोड़कर चल देने की जब कोई बाहरी वजह मिलती ही नहीं तब यह मानना ही पड़ता है कि वह पैदायशी नायक थे। नायक जोशीले नहीं हुआ करते, गंभीर होते हैं। जोश में घर छोड़ा जा सकता है, राजपाट भी, पर सदा के लिये नहीं। सदा के लिये वह छोड़े जाते हैं किसी सिद्धान्त के खातिर। सिद्धान्त यों ही नहीं बन जाया करता उसका विकास होता है। वह जिन्दगी का हिस्सा बन जाया करता है। तभी तो किसी कवि ने उनकी कई पिछली जिन्दगियों की तस्वीर खींचकर सामने रख दी है। हम उन तस्वीरों के फैसले के झगड़े में न पड़कर यह असली बात समझ लेते हैं कि सिद्धान्त एक नहीं, कई जीवन तक साथ रहकर पूरा हुआ करता है।

हाँ, तो महावीर स्वामी का घर छोड़ना एक सिद्धान्त की बात थी।

पच्चीस बरस मानने में कोई दिक्कत तो नहीं होनी चाहिये, पर सोलह के होने से पच्चीस तक कम से कम पूरे नौ बरस यानी एक मां के गर्भ संभालने से बारह गुना ज्यादा, तक हमारे नायक ने अपनी जिन्दगी में सिद्धान्त के गर्भभार को जरूर संभाले रखा। साधारण गर्भ को संभालने में एक मां को जितना सतर्क रहना पड़ता है, उससे कई गुना सतर्क रहना पड़ता है सिद्धान्त के गर्भ को संभालने में। इन सात के नौ बरस के कुशलता जानने, हाथी पछाड़ने जैसे कारनामे आम आदमियों के कानों को भले ही भले लगें, पर उन खोजियों और धर्म के प्यासों को तनिक भी रुचिकर नहीं हो सकते, जो महावीर बनकर मुल्क और दुनिया का दुःख मिटा कर जाना चाहते हैं। वह तो यह जानना चाहेंगे कि इन नौ बरसों में उन्होंने अपने कुटुम्बियों, रिश्तेदारों, नौकर चाकरों, पड़ोसी राज्यों को अपने सिद्धान्त समझाने

और उनके गले उतारने में क्या क्या कोशिशें कीं ? कितनी सफलता मिली ? कितनी कठिनाइयाँ आईं ? किस किस ने मदद की ? किस किस ने रुकावट पैदा की ? घर छोड़ना क्यों जरूरी हुआ ? इत्यादि ।

राजकुमार सिद्धार्थ का सुशील सुन्दरी, विदुषी और प्यारी संगिनी यशोधरा और प्यारे मनमोहन अबोध बालक राहुल को आधी रात सोते छोड़कर चल देना हम यह मानने के लिये मजबूर करता है कि राजकुमार वर्द्धमान महावीर स्वामी के रास्ते में बड़ी बड़ी मुसीबतें आई होंगी । न मालूम किन किन कठिनाइयों में वे अपने माता पिता, राजा रानी को घर छोड़ जाने देने पर राजी कर सके होंगे ? सिद्धार्थ का रास्ता तो वर्द्धमान साफ कर गये थे, पर वर्द्धमान का रास्ता तो झाड़ झंखाड़ों से भरा था । उन्होंने उसे किस यत्न से साफ किया ? और कैसे ? हो सकता है कि सिद्धार्थ आँसुओं का मुकाबला करने में निष्फल रहे हों और फिर वह दिक्कतें सुजान भी चुके हों, पर वर्द्धमान को तो उनका मुकाबला करना ही पड़ा । उन्होंने किस तरह मन पर काबू पाया और दिक्कतों को क्यों कर जीता ? यही तो बातें हैं, जो जाननी हैं । लिखी कहीं न भी मिलें, उस अवस्था में प्रवेश कर जरूर जानी जा सकती हैं ।

घर छोड़ने के बाद जंगल में की कठिन तपस्या को उनके भक्त भले ही अनुपम और शायद अनुकरणीय भी समझें, पर मैं तो सोलह से पच्चीस तक की तपस्या को ही महत्व देता रहूँगा । काम की यही चीज है । जवानों में जान यही फूँकेगी । महावीर यही पैदा कर सकती है ।

उठती जवानी की नदी की बाढ़ में न बहकर अपनी राह ही चलना, पाँव न डगमगाने देना, इतना अटकना घूमना, पर पीछे न हटना तपस्या नहीं तो और क्या है ? राज्य लक्ष्मी के नयन बाणों से बिंधी छाती लिये अकिंचना छोकरी के पाणिग्रहण के लिये धीरता के साथ आगे आगे ही बढ़ते जाना, मुड़कर भी न देखना तपस्या नहीं तो क्या है ? माता पिता के ठंडे मीठे स्नेह-जल में रात दिन डूबे रहें, प्यास लगने पर भी होंठ तक तर न करना तपस्या नहीं तो क्या है ? निराकार शून्यता के वायुमण्डल से वीतरागता की साँस खींचकर छाती फुला दुनिया का प्रेम राग पाश में बाँधने की पूरी छूट के बाद पर साँस फेंक, पाश ढीला कर साफ बाहर आ जाना तपस्या नहीं तो क्या है ? मैं और तुम जैसे तो उनकी अद्भुत अभूतपूर्व और क्रूर तपस्या का हाल जानने के लिये सिर से पाँव तक कान को बैठे हैं । वह तपस्या तपस्या थी, मुश्किल थी । ऐसी ही थी कि कपड़े पहन कर पानी में गोता मारो और बिना कपड़े भिगोये बाहर आओ ।

हाँ, तो हमारे पैदायशी नायक राजकुमार वर्द्धमान मिर्में भीगते ही क्या देखते हैं, हैरानी साधु अपने चारों ओर पाच पाच आग की ढेरा लगा, ध्यान में लगे तपस्या कर रहे हैं। सोचने लगे, यह तप किस शांति के लिये? बुखार वाला आदमी गर्मी में यह कम्बल ओढ़ लेता है, पसीना लाकर बुखार उतारने के लिये, फोड़े पर लोग गम गम पुल्टिसें बाधते हैं पका कर मवाद निकाल फेंकने के लिये पर यह किस रोग की शांति के लिये आग तपकर पसीना बहा रहे हैं? उत्तर न मिलने पर हृदय टटोला। वह आप ही तपस्या करता मिला।

एक ओर उसके जल रही है हिंसा की आग, जो धू धू करता सारी दुनिया को जला डालने के लिये सारा निगुडा लपलपाती उठती हो चला जाता है।

उसीसे लगी हुई यह दूसरी ढेरी। यह झूठ का गरम भूभल है। यह लोगों की आत्माओं को भून डालने पर तुला है।

तीसरा ढेरा से चोरी की लपटें निकल निकल कर व्यापार, राज्य, यहा तक कि पुरोहितों तक को अपनी लपट में लेने की कोशिश कर रही हैं।

परिग्रह की आग का चौथा ढेरा अपने ढंग का अनोखा ही है। यह एक को जलाती, एक को सरसाती और फिर वैसे इस सरसाए हुओं को भस्म करती और दूसरी एक को सरसाती अपने काम में लगी हुई है।

मानो मीठा सुलगता आग की पांचवी अब्रह्म नाम का ढेरा भीतर ही भीतर सुलगाता चली जाती है। जलनी घोर घार है, पर मुलैठी के साथ आग ही बढ़ती जा रही है।

यह सब देखकर राजकुमार मुस्कराये, हृदय को आशीर्वाद दिया और बोले—"चल, तेरा तपस्या सफल होगा।"

और सोचने लगे—अहो, अहिंसा के लिये भाषा में एक शब्द भी नहीं! हिंसा पर लोग इतने मुग्ध! काहे मरोंगे की ना गिन कर, पशु से लेकर आदमी तक किसी का भी छूट नहीं! बरा से बचने, व्यापार करना और घर-गृहस्थी चलाने जैसे कामों में होने वाला जरूरी बुराई के रूप में ही हिंसा काम नहीं आती। वह तो आनन्द बढ़ाने और कल्याण (धर्म) फैलाने के काम भी कर रही है। फिर अहिंसा के लिये शब्द गढ़ने का न जरूरत है न फुरसत।

अब?

अब, अब गढ़ूँगा एक हथियार—नया, बहुत तेज।

अहिंसा से हिंसा न मरेगी। वह हथियार ही नहीं, वर्दी हो सकता है।

और सत्य! हा! सत्य और निर्मल जल को, रूढ़ि के यहा गंदे कपड़े धो-

घोकर नाला के पानी से भी ज्यादा गदला बना दिया है। सत्य का आदर है नहीं, पर उसके आसन पर बैठा झूठ ही तो पूजा पा रहा है। कोई यह जानना ही नहीं चाहता कि वह किसकी पूजा कर रहा है? हिंसा ने सबको कर रखा है आँखें बंद और मदिरा ने कर दी है बुद्धि मंद। अहिंसा मर चुकी, सत्य सिसक रहा है। अहिंसा की वर्दी पहन कर ही सत्य में जान डाली जा सकती है सत्य अमर है, यह मरने का नहीं। डरने का क्या काम सत्य आत्म धर्म के सिपाही का कवच रहेगा। कवच के लिये इससे मजबूत चीज और हो भी क्या सकता है?

अचौर्य! यह और लो!! इसके लिये भी शब्द नदारद। खैर! फिर क्या है, मारो हाथ! ठूस-ठूस कर पेट भरने के लिये चोरी-चोरी नहीं, पर नाज (ठीक) व्यापार में कम देना ज्यादा लेना चोरी चोरी नहीं, पर धर्म विरुद्ध नहीं। दूसरे देश को वाणिज्य के बल या चालाकी से दबा बैठना चोरी, पर राजधर्म इसको धर्म कहता है। चोरी की जब इतनी पहुँच तब अचौर्य के लिये शब्द न होना ठीक ही है। परवाह नहीं अचौर्य की ढाल बनाई जायगी।

अपरिग्रह! इसको तो कोई जानता ही नहीं। कोई सुनना भी नहीं चाहता। कोई सुनता है तो झट बोल उठता है, "यह कोई शब्द भी नहीं। "अ" जोड़कर गढ़ लिया है। परिग्रह धर्म है अरे हम हैं परिग्रही, यानी धर्मात्मा। संग्रह करना धर्म है। संग्रहकर्त्ता धनाढ्य नाम वाला है धनाढ्य धर्मात्मा होता है। धर्मात्मा ही नहीं, धर्मात्माओं का जाल बनाता है। संग्रह न करना पाप है। संग्रह न करने वाला गरीब या निर्धन कहलाता है। निधन होना यानी मरना। निधन माने मौत। ठीक भाई, ठीक!! समझा। अपरिग्रह कड़वा दवा है। सहज गले न उतरेगा। पर सिपाही को तो इसका घूँट पीना ही होगा। परिग्रह बढ़ा है, सिपाही को आगे बढ़ने ही न देगी। इस कांटेदार सिपाही के जूते का नाल बनाई जाय। सिपाही कँटीली, ककरीली राह पर बेखटके चल सकेगा। परिग्रह बड़ी नाल बनकर अपरिग्रह बन गई और काम की चीज होगई।

ब्रह्मचर्य! अहिंसा के मरने पर यह कैसे जी रहा है? यह ठीक है कि ब्रह्म अमर है और सत्य की तरह ही अमर है, पर इसके जीने की अहिंसा नहीं मर सकती। अहिंसा के मरने पर इसका जीना रहना भेद से खाली नहीं। ब्रह्मचर्य की नब्ज टटोली जाय। यह तो आखिरी साँसें ले रहा है! वेश्यागामी राजा ही नहीं, कोई भी आदमी ब्रह्मचारी ही माना जाता है। वेश्या पर नारी कहाँ है। खूब, स्व-स्त्री का बहुवचन व्याकरण सिद्ध ही नहीं, धर्म सिद्ध भी है।

अब!

भगवान पार्श्वनाथ के समय के सिपाहियों को शायद इसकी जरूरत न रही हो, पर आज तो यह आत्मधर्म के हरएक सिपाही से अपनाया जायगा। स्व-स्त्रियाँ नहीं, स्व-स्त्री भी नहीं; मर्यादा के भीतर स्व-स्त्री ही ब्रह्मचर्य का अर्थ रहता आया है और रहेगा। खास-खास हालतों में इससे आगे बढ़ने की छूट रहेगी और वह जरूरी भी है। आत्मधर्म के सिपाहियों का इसको खोद× बनाया जाय। हृदय के उत्तम उद्गारों की रक्षा सत्य के और निर्मल विचारों की रक्षा ब्रह्मचर्य के सिपुर्द।

ऐसी वर्दी पहन मांस मदिरा और अविवेक-पूर्ण मैथुन का कौन सेवन करेगा? क्या यह माफ कर चला जाय? हरगिज नहीं। सिपाहियों के लिये ही नहीं, औरों के लिये इसकी जरूरत है। खैर, अच्छा तो यही आठ आत्मधर्म के सिपाहियों की पहचान।

(१) अहिंसा (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) अपरिग्रह, (५) ब्रह्मचर्य (६) मांस त्याग, (७) मदिरा-त्याग, (८) अविवेक-पूर्ण मैथुन त्याग।

इस सिपाही के हथियार?

हथियार ये हैं—

(१) आत्मा है और है।

(२) वह और वे अजर अमर, अनादि, अनन्त हैं और हैं।

(३) आत्मा पुरुषार्थ से परमात्मा हो सकता है।

और झंडा?

झंडा रहेगा—

सत्-श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र।

और ध्वनि (नारा)?

नारा है—

मानव मानव एक जाति

परम धर्म प्रेम।



× युद्ध में पहनने का लोहे का टोप।

भगवान महावीर और उनके उत्तराधिकारी

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

[हिन्दी में नई निबन्ध शैली के प्रवर्तक पत्रकार साहित्यवेत्ता]

पुरुषों के उत्तराधिकारी होते हैं उनके पुत्र—पौत्र या दत्तक और महापुरुषों के उत्तराधिकारी होते हैं उनके अनुयायी। पुरुष अपने उत्तराधिकार में छोड़ जाते हैं घर, बाग और धन और महापुरुष छोड़ जाते हैं विश्व के नव निर्माण के अपने अधूरे पर सुन्दर और उज्ज्वल विचारों की थाती।

पुरुषों के उत्तराधिकार की परम्परा तो सृष्टि के आरम्भ से अभी तक ज्यों की त्यों चली आ रही है—पर महापुरुषों के उत्तराधिकार की परम्परा यह आश्चर्यजनक है कि सृष्टि के आरम्भ से ही बिगड़ी हुई है। उनके उत्तराधिकारी वे अनधिकारी घोषित होते रहे हैं जो उनके अधूरे संकल्पों को पूर्ण करने में तो असफल होते ही हैं, उनके विचारों को सजो कर रखने में भी अप्रमाण ही सिद्ध होते हैं उनकी अयोग्यता की सबसे बड़ी कसौटी यह है कि वे यह भूल जाते हैं कि महापुरुष के विचारों को सजो कर रखने का अर्थ होता है हजार हाथों से उन्हें विश्व में फैलाना।

वे करते हैं यह कि उन विचारों को कागजों पर लिख कर अच्छे स्थानों में रख देते हैं। इस तरह उन विचारों का प्रचार तो रुक जाता है पर उन कागजों की पूजा होने लगती है। ये लोग उन महापुरुषों पर भी अपना 'हॉलमार्क' लगा देते हैं। इस तरह ये महापुरुष विश्व की व्यापी आत्मा के प्रेरक न रह कर उन उत्तराधिकारियों की सम्पत्ति भी हो जाते हैं और यह उत्तराधिकारी एक वर्ग का रूप धारण कर उन महापुरुषों के नाम और विचारों पर वैसा ही कब्जा कर लेते हैं जैसा आरम्भ में उन्होंने अपने पिता पर किया था। संसार में धर्मों के निर्माण का यही इतिहास है और यही महापुरुषों के उत्तराधिकार का स्वरूप है।

इस स्वरूप का एक और कुरूप है, जो सम्भवतः विश्व की सबसे दुखान्त घटना है कुछ लोग हैं जो ईमानदारी के साथ महापुरुषों के अधूरे संकल्पों को पूरा करने में रात दिन अपनी प्राणाहुति देते रहते हैं और अपने खून का फाग

खेलते रहते हैं पर उत्तराधिकारियों का वर्ग इन्हें अपने में शुमार नहीं करता यत्नपूर्वक इन्हें अपने से दूर रखता है। क्योंकि ये उन पुस्तकों की पूजा करने में विश्वास नहीं रखते और सत्पुरुषों पर 'हालमार्क' (सरकारी मुहर) लगाने का विरोध करते हैं।

विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कहानी इस दिशा में बड़ा मर्मस्पर्शी प्रकाश डालती है। एक धनकुबेर के यहाँ [illegible] के बाद पुत्र उत्पन्न हुआ। वह एक दिन पालने में सो रहा था कि एक भिखारिन भीख मांगने वहाँ आई। भिखारिन की गोद में भी उतना ही बड़ा पुत्र था — यही कोई १० ११ दिन का न था। भिखारिन को एक सूझ हुई और उसने सबकी नजरें बचा अपना पुत्र पालने में सुला दिया और सेठ के पुत्र को आंचल में छुपा कर चली गई। दोनों बड़े हुए। धनकुबेर का पुत्र भीख मांगा करता, भिखारिन का बेटा धनकुबेर की गद्दी पर बैठता। धनकुबेर मर गया और बड़ा भारी ब्रह्मभोज हुआ। इस ब्रह्मभोज में धनकुबेर का सच्चा उत्तराधिकारी, पर वास्तव में भिखारिन का यह बेटा भी पुन आया। वह आमंत्रित तो न था। धनकुबेर के [illegible] भिखारन के वास्तविक पुत्र ने उसे देखा और धकिया कर, [illegible] बाहर निकाल दिया। धनकुबेर का सच्चा पुत्र धनकुबेर के ही द्वार पर ठुकरा दिया गया, उन हाथों, जो आज इसी द्वार पर भीख मांगते, [illegible] [illegible] पात्र थे। हम इस कहानी के मर्म का पल भर के लिए अनुभव कर सकें तो कराह उठें।

महावीर भगवान भी विश्व के महापुरुष थे। प्रश्न है कि उनका उत्तराधिकारी कौन है? लाखों व्यक्ति कहने को तैयार हैं कि हम। वे हैं जिनके पास महावीर की मूर्तियां हैं, पुस्तकें हैं और विद्वान अपना [illegible] [illegible] [illegible] हैं, पर मेरे प्रश्न की दिशा दूसरी है। मैं पूछता हूँ भगवान महावीर के वास्तविक उत्तराधिकारी कौन हैं?

प्रश्न का उत्तर एक और प्रश्न है भगवान कौन [illegible] छोड़ गये हैं, जिसके उत्तराधिकारी का यह खोज है? इस खोज की पूर्ति से पहले प्रश्न का उत्तर मिलेगा।

भगवान के छोड़े धन का नाम है निर्ग्रंथ। [illegible] निर्ग्रन्थ की [illegible] के एक आदि उद्गम का नाम है महावीर। है स्पष्ट और मधुर

भेद हो, प्राणिमात्र को जीवन का समान अधिकार हो, नारी भिक्षा के रूप में नहीं अधिकार के रूप में मान ग्रहण करे, हम जियें भी और जीने भी दें, हम स्वतन्त्रता से सोचें और दूसरों को भी सोचने दें, यह मानवता का विधान है, पर कुछ लोगों ने मान, धन और अधिकार को बपौती बना लिया, नारी को पद दलित कर प्रतिष्ठित बन्दी का रूप दे दिया, पशुओं को जीवन के अधिकार से वञ्चित कर दिया और दूसरों से स्वतन्त्रता पूर्वक सोचने विचारने का भी अधिकार छीन लिया। इससे भी भयङ्कर यह हुआ कि समाज-व्यवस्था और शासन ने इस दुर्व्यवस्था की रक्षा का भार अपने सिर ले लिया और इस प्रकार इसे प्रामाणिकता दे दी।

इसी प्रामाणिकता के विरुद्ध भगवान् महावीर ने विद्रोह का झण्डा भारतीय आकाश में पहली बार फहराया। यह झण्डा किसी राजा के हाथों में न था, एक सन्त तीर्थङ्कर के हाथों में था। फलतः यह एक मौलिक विद्रोह था—इस विद्रोह के पीछे महावीर की जीवन साधना थी—किसी राज्य की चतुरंगिणी सेना नहीं।

यह विद्रोह अभी अपूर्ण है—जब तक नई संस्कृति—नई समाज व्यवस्था की स्थापना न हो जाय, यह अपूर्ण रहेगा। यह विद्रोह अपूर्ण है, पर सदैव प्रगतिशील है। कबीर जैसे सन्तों, रैदास जैसे भक्तों ने इस अग्नि-ज्वाला को प्रज्वलित रखा है, मार्क्स ने इसे नया पथ दिखाया है, लेनिन ने उसे जमीन पर उतारा है और गांधी ने समर्थ हाथों में इसी विद्रोह की पताका रखी है।

तो फिर? तो फिर क्या प्रश्न भी स्पष्ट है और उसका उत्तर भी। भगवान् विद्रोह के आदि स्रोत थे, यही वे अपनी धरोहर में छोड़ गये हैं। विश्व में जो लोग समानता, स्वतन्त्रता और सद्भावना का युद्ध लड़ रहे हैं, वे किसी देश में जन्मे हों, पले हों, वे किसी भाषा में बोलते हों, उनका नाम किसी भी धर्म के रजिस्टर में हों, वे ही भगवान महावीर के सच्चे उत्तराधिकारी हैं।

वर्द्धमान ने कहा—

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स, पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥

भय और वैर से निवृत्त साधक, जीवन के प्रति मोह ममता रखने वाले सब प्राणियों को सर्वत्र अपनी ही आत्मा के समान जानकर उनकी कभी भी हिंसा न करे।

'दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं वियं जियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥

आत्मार्थी साधक को दृष्ट (सत्य), परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट, अनुभूत, वाचालता रहित, और किसी को भी उद्विग्न न करने वाली वाणी बोलनी चाहिये।

"चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहं से अजाइया ॥

सचेतन पदार्थ हो या अचेतन, अल्पमूल्य पदार्थ हो या बहुमूल्य, और तो क्या, दांत कुरेदने की सींक भी जिस गृहस्थ के अधिकार में हो उसकी आज्ञा लिये बिना पूर्ण संयमी साधक न तो स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करते हैं, और न ग्रहण करने वालों का अनुमोदन ही करते हैं।

"दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए ।
संकट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥

स्थिर चित्त भिक्षु, दुर्जय काम भोगों को हमेशा के लिए छोड़ दे। इतना ही नहीं, जिनसे ब्रह्मचर्य में तनिक सा क्षति पहुँचने की संभावना हो, उन सब शंका-स्थानों का भी उसे परित्याग कर देना चाहिए।"

"लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे, गिही, पव्वइए न से ॥"

संग्रह करना, यह अन्दर रहने वाले लोभ की झलक है। अतएव मैं मानता हूँ कि जो साधु मर्यादा विरुद्ध कुछ संग्रह करना चाहता है, वह गृहस्थ है—साधु नहीं है।

महावीर और उनका संदेश

यशपाल जैन

गांधी विचारक, कहानी लेखक
सम्पादक 'जीवन साहित्य'

इस पृथ्वी पर जब जब धर्म की हानि होती है, कोई न कोई महापुरुष उत्पन्न हो जाता है और वह मानव के विश्वास, आस्था और निष्ठा को नवीन स्फूर्ति और नया बल प्रदान करता है। महावीर ऐसे ही महापुरुषों में से एक थे। उन्होंने किसी नये धर्म की प्रतिष्ठा नहीं की बल्कि मानव और मानव समुदाय के खोये विश्वास को पुनर्स्थापित किया।

भारत एक विशाल भूखण्ड है। उसमें अनेक जातियाँ बसती हैं, जिनके अलग-अलग धर्म हैं और अलग-अलग धार्मिक मान्यताएँ हैं। प्राचीन काल में जब आर्य जाति यहाँ आई तो वह एक जगह जमकर नहीं बैठी, विभिन्न स्थानों में फैल गई। उसकी शाखायें बनीं और देश-काल के अनुसार उनके मत मतान्तरों में भी परिवर्तन होगया। धीरे धीरे वे एक दूसरी से दूर पड़ती गईं और कालान्तर में उनके मतान्तरों के कारण उनमें पारस्परिक असहिष्णुता पैदा होगई। इतना ही नहीं, उनके धर्म का मूल रूप और मूल्य मान्यताएँ भी आगे चलकर बदल गईं। वे एक ईश्वर के उपासक थे लेकिन प्रकृति की भिन्न शक्तियों में ईश्वर के भिन्न भिन्न रूपों की रचना करके देवता के रूप में उनकी पूजा करते थे पर एक समय आया कि वे क्रियाकाण्डों को ही मोक्ष का साधन मानने लगे। ईश्वर की उपासना के लिए उन्होंने जिन यज्ञों की सृष्टि की थी, उनमें हजारों पशुओं की बलि देनेवाले मानव मानव के नाते वे सब पहले एक थे। सुभीते की दृष्टि से उन्होंने कार्य विभाजन कर लिया था लेकिन अब वह विभाजन वर्ण के रूप में परिवर्तित होगया और एक वर्ण दूसरे से अपने को पृथक ही नहीं, उच्च भी मानने लगा। शूद्र और दासों का एक ऐसा वर्ग बन गया, जिसे मानवता के सामान्य अधिकारों से भी वंचित होना पड़ा। आदमी आदमी के बीच दूरी आगई और प्रेम तथा भ्रातृ भाव के स्थान पर

ईर्ष्या-द्वेष आदि कषायों ने घर बना लिया।

ऐसी विषम परिस्थिति में ज्ञातृ गण के राजघराने में वर्द्धमान नामक बालक पैदा हुआ। वह असाधारण बालक था, पर उसका बचपन बहुत कुछ वैसा ही बीता, जैसा अन्य बालकों का बीता करता है। एक बीज उसमें बचपन से ही विद्यमान था, और ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता गया उस बीज की जड़ जमती गई। बाल्यावस्था पार होने पर उसका विवाह हुआ उसे यशोदा नामकी बहुत ही सुशील पत्नी मिली, लेकिन उसका मन भोग विलास या राज पाट के वैभव में नहीं रमा। अंदर अंदर आग जो पक रही थी। और जब घर के लोग और राज्य की प्रजा यह आशा कर रही थी कि कुछ दिन बाद राजपाट का भार उसके कंधों पर आ जायगा उस युवक ने सबको *लात मारी* और माता पिता के देहावसान के दो वर्ष बाद भरी जवानी में घर से निकल गया। तीस वर्ष की अवस्था, भरा पूरा घर, सुशील पत्नी, लेकिन कुछ भी उसे नहीं रोक सका। बारह वर्ष तक उसने घोर तपस्या की। काया सूख गई, वस्त्र जीर्ण होकर नष्ट होगये, जंगली पशु-पक्षियों ने उसे सताया, लोगों ने मारा-पीटा तात्पर्य यह कि अनेक विघ्न बाधाएँ उनके मार्ग में आई, उपसर्ग हुए लेकिन वह डिगा नहीं। अपनी साधना में लीन रहा।

तेरहवें वर्ष उनकी तपस्या सफल हुई। उन्हें 'केवली' पद प्राप्त हुआ। और वह दुनिया के सुख दुख, भोग विलास, मोह माया आदि से ऊपर उठ गये। वह वर्द्धमान से महावीर बन गये। अब वह सिद्धार्थ और त्रिशला के बेटे या ज्ञातृगण के राजघराने के राजकुमार नहीं, बल्कि मानवता के मार्गदर्शक बन गये।

महावीर ने जैन धर्म की स्थापना नहीं की। वह धर्म तो बहुत पहले स्थापित हो चुका था और महावीर से पूर्व २३ तीर्थंकर और हो चुके थे महावीर ने तो उस पुराने धर्म को बल प्रदान किया। उसमें जो बुराइयां आगई थीं, वे दूर कीं। ज्ञान प्राप्त होते ही चारों ओर से लोग आकर्षित होकर उनके पास आने लगे और थोड़े ही समय में उनके अनुयायियों की संख्या लाखों हो गई।

प्रश्न उठ सकता है कि जवानी के आनंद और राज-पाट के सुख को तिलांजलि देकर उन्हें साधना के कठोर मार्ग पर चलने की क्या

आवश्यकता थी? 'प्रेय' का मार्ग जब सामने खुला था तो 'श्रेय' के मार्ग का अवलम्बन करने की क्या पड़ी थी? अपनी बड़ी सम्पत्ति में से भर भर थैली दान करके वे गरीबों का कष्ट निवारण कर सकते थे तो उन्होंने उस दुर्लभ और स्पृहणीय अवसर को क्यों खोया? इतने बड़े राज्य के पाने के अधिकारी होते हुए भी, उधर से मुँह मोड़कर स्वेच्छा से वह क्यों अकिंचन बने?

आज के युग में इन प्रश्नों का उत्तर पाना जरा कठिन है लेकिन युग की दृष्टि से न देखकर महावीर की दृष्टि से देखें तो उत्तर स्पष्ट है और वह यह कि असली सुख और सच्ची शांति वैभव में नहीं है, त्याग में है और जीवन की कृतार्थता भौतिक उपलब्धियों में नहीं आत्मा की शांति में है। महावीर को जैसे ही यह ज्ञान हुआ कि लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति होते हुए भी जिसकी आत्मा दुर्बल है या कषायों का दास है वह अमीर नहीं है और कौड़ी पास न होते हुए भी जिसकी आत्मा बलिष्ठ है वह वास्तव में अमीर है। उन्हें अपना सारा ऐश्वर्य छोड़ने और आत्मा की उन्नति में लीन होने में जरा भी देर न लगी, हिचक तो भला होना ही क्या थी?

दूसरा सवाल यह होता है कि महावीर की वाणी में, उनके शब्दों में इतना जादू कहाँ से आ गया? कि—लाखों नर-नारी उनके संघ में आ मिले? इसका उत्तर भी साफ है और वह यह कि उन्होंने अपने मुँह से कभी एक भी ऐसा शब्द नहीं निकाला जिसका आचरण उन्होंने अपने जीवन में न किया हो। अहिंसा की बात कही, लेकिन तब जब उन्होंने स्वयं मन वचन और काय से हिंसा को छोड़ दिया। अपरिग्रह की बात तब मुँह से निकाली जब स्वयं अकिंचन बन गए। सत्य का प्रतिपादन किया तब जब सत्य की पूर्ण प्रतिष्ठा अपने हृदय में करली। ब्रह्मचर्य की बात तब मुँह से बाहर निकली जब स्वयं पूर्ण संयमी ब्रह्मचारी बन गए। उनकी कथनी और करनी में तनिक भी भेद न रहा और यही उनकी वाणी की शक्ति का रहस्य था। बारह वर्ष की दुर्धर साधना में उन्होंने यही तो किया था।

महावीर ने सबसे अधिक जोर मानव और उसके जीवन की पावनता पर दिया है। क्यों? इसलिए कि इस दुनिया कि मूलभूत इकाई मानव है। यदि आदमी अच्छा है तो संसार अच्छा हुए बिना नहीं रहेगा। यदि आदमी

बुरा है तो कोई भी शक्ति इस दुनिया को अच्छा नहीं बना सकती।

महावीर ने अपने समय की भयावह स्थिति को देखा । नाना प्रकार की बुराइयों में समूचा समाज जर्जर हो गया था। आदमी इतना स्वार्थपरायण और भोग-निष्ठ बन गया था कि उसे अपने स्वार्थ और भोग के आगे और कुछ दीखता ही नहीं था। वह भटकता था और दुर्भाग्य से उस भटकने को ही वह सच्चा आनंद समझ बैठा था। वह बेचैन था, लेकिन उसे इतनी चेतना ही न रही थी कि वह समझे कि वह बेचैन है।

महावीर ने मानव को नई दिशा दी। उन्होंने कहा कि कोई व्यक्ति मूलतः बुरा नहीं है और यदि वह गलती से बुरे मार्ग पर चला गया है तो वह उस मार्ग को छोड़ कर एक दिन अच्छा भी बन सकता है। यह वह कहते थे कि जो एक बार बिगड़ गया उसका सुधार असम्भव है, लेकिन उस दशा में शायद उन्हें सारी दुनिया को ही खो देना पड़ता और फिर सत्य का वह पुजारी जानता था कि व्यक्ति भूल से ही गलत रास्ते पर जाता है समझ-बूझ कर अनुचित मार्ग पर जाने वाला करोड़ों में एक भी मुश्किल से मिलेगा। मानवता के लिए उनका यह संदेश आशा की एक अमृत किरण लेकर आया। उसने बुराइयों के दलदल में फंसे लोगों को उसमें से बाहर निकलने की एक प्रेरक शक्ति प्रदान की। उनके इन शब्दों ने उसे बड़ा स्फूर्ति प्रदान की—'विवेकी पुरुष जान में या अनजान में कोई अधम कृत्य कर बैठे तो अपनी आत्मा को शीघ्र उससे हटा ले और फिर दूसरी बार वैसा न करे।' फिर उन्होंने कहा कि मानव के अंदर अनंत शक्ति अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य इन पाँच व्रतों के पालन से ही उत्पन्न हो सकती है। जो गृहस्थ हैं, जिन पर परिवार का भार है, वे यदि सूक्ष्म रूप से इन व्रतों का पालन नहीं कर सकते तो स्थूल-रूप से ही करें, अर्थात् जानबूझ कर हिंसा न करें, झूठ न बोलें चोरी न करें, परिग्रह न रक्खें और असंयमी न बनें। कभी जान में या अनजान में ऐसा हो भी जाय तो निराश न हों बल्कि इन व्रतों के पालन का प्रयत्न करें।

उन्होंने यह भी कहा कि—बुराइयों का मूल कारण यह है कि आदमी अपनी ओर देख कर दूसरों की ओर देखता है। इसलिए अपनी दृष्टि को अंतर्मुखी करके अपने दोषों को देखो और उन्हें

दूर करने की कोशिश करो—'अपने आपको जीतो। अपने आपको जानना ही वास्तव में दुर्जय है।' ये महावीर के शब्द थे।

संसार में जितने धर्म हैं उनकी मूल मान्यता प्रायः यही है। मेरे रास्ते में आज तक कोई भी ऐसा धर्म नहीं आया जो यह कहता हो कि मनुष्य बुरा बना रहे तब भी संसार अच्छा हो सकता है या कि मनुष्य भोग लिप्त रह कर उर्ध्वगामी बन सकता है। कौन सा धर्म है जो यह कह सकता है कि वैर से वैर शांत होता है और हिंसा से हिंसा?

सवाल उठता है कि महावीर का सन्देश इतना व्यापक कैसे बना? इसलिए कि उन्होंने अपने को और अपना ध्यान को किसी वर्ग विशेष तक सीमित नहीं रक्खा। उनके लिए न कोई उच्च वर्ण का था न निम्न वर्ण का। मानव मानव के नाते सब एक थे। इसीलिए उनका सन्देश सारी मानव जाति के लिए था और है। दूसरे उन्होंने ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिसे सब आसानी से प्रयोग कर सकते थे।

उनका मार्ग निश्चय ही धारा शंकर की धोटी पर चढ़ने के समान है। वह भोग की अनुमति नहीं देता, त्याग का आग्रह रखता है वह इच्छा को प्रोत्साहन नहीं देता, श्रम की स्थापना करता है, वह महत्वाकांक्षा को अवसर नहीं देता, आत्मसंयम का पाठ पढ़ाता है। ऐसा मार्ग सरल कैसे हो सकता है लेकिन जिस आदमी को महावीर के बनाये इस राजमार्ग पर चलने का एक बार चस्का लग गया कि फिर और कोई भी मार्ग उसे अच्छा नहीं लगेगा।

मेरे लिए धर्म का मर्म यही है। दुर्भाग्य से आज धर्म की परिभाषा आज कुछ और ही होगई है। औरों की बात क्या करें महावीर पर अपना एकाधिकार रखने वाले उनके अनुयायी भी उनके मार्ग को भूल बैठे हैं। उन्होंने क्रियाकाण्ड को मन्त्रवत् जकड़ रक्खा है, धर्म की आत्मा को छोड़ दिया है और समझ रहे हैं कि मन्त्रवत् रूढ़ियों का पालन करके वे धर्म साधन कर रहे हैं।

इसका बहुत बड़ा कारण तो मानव की स्वयं की दुर्बलता है। लेकिन एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि पश्चिमी सभ्यता जोरों से लोगों पर अपना प्रभाव डाल रही है। यह सभ्यता मुख्यतः भौतिक है और इसीलिए उसने आज के मानव और आज के समाज को भौतिकता का

प्रेमी बना दिया है। वह स्थूल वस्तु को चाहने लगा है और उन सूक्ष्म तत्वों की ओर से उदासीन होता जा रहा है, जो उसके भौतिक आनन्द में सहायक नहीं होते, उल्टे उसमें खलल डालते हैं।

पर इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं है। उषा के आगमन से पूर्व रात्रि का अन्धकार बहुत ही गहन हो उठता है। उस अन्धकार को चीरकर ही प्रकाश की किरण फूटती है। जबतक मानव निरा पशु नहीं हो जाता, जबतक मानवता का एक कण भी उसमें शेष रहता है तबतक निराश होने का कोई कारण नहीं है। हमें इस महान सत्य को नहीं भूलना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति मूलतः बुरा नहीं है और जिस दिन उसे अपने दोषों का भान हो जायगा, वह उनसे मुक्त होने और आगे उनकी पुनरावृत्ति न करने का प्रयत्न अवश्य करेगा।

जहाँ तक हो सकेगा—

"व्रत लेना दुर्बलता का परिचायक नहीं, वह बल का ही परिचायक है। कोई कार्य यदि उचित है तो उसे करना ही चाहिये, इसीका नाम व्रत है और इसी में शक्ति है। किन्तु "जहाँ तक हो सकेगा" इस तरह की बात जो करता है वह अपनी दुर्बलता या अभिमान का परिचय देता है। शुभ संकल्प के सम्बन्ध में "जहाँ तक हो सकेगा" इस तरह का वाक्य विष की तरह है। "जहाँ तक हो सकेगा, सत्य का पालन करूंगा।" इस प्रकार के वाक्य का कोई अर्थ नहीं होता।

—महात्मा गांधी

अमृत को विष न बनाइये—

मनुष्य को चाहिये कि वह धर्म को दंभ, घृणा, विवाद और खून खराबी का कारण न बनावे। जो वस्तु अमृत बनाने के लिए है उसको विष नहीं बना डालना चाहिये। हम उस भैंस के समान नहीं होना चाहिये जो साफ पानी के तालाब में जाकर उसको मथ डालता है, और गदलाकर उसमें आनन्दानुभव करता है।

—चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

' नमोस्तु ते, देह-सुखाति निस्पृही '

"सदा अहिंसा रखना स्व धर्म है
अदत्त लेना अपना न कर्म है,
मनुष्य जो उत्तम आत्म-निग्रही
उन्हें अविश्वास सदा अधर्म में।

"न मार्ग पाथेय विना सुगम है,
सुधर्म साथी पर लोक का सदा,
न काल जाके फिरता कदापि है,
अधर्म का पादप पुष्प-हीन है।

' सभी त्रस स्थावर प्राणि विश्व के
अवध्य ही हैं न, अदंडनीय हैं,
विनीत होते जब दंड-नाम से,
कदापि प्राणी मरना न चाहते।

"विपत्त मे हो सम भाव पक्ष में,
तथा मृषा भाषण मे न प्रीति हो,
न सत्य सा है तप और विश्व में
कहा गया है, ऋत ब्रह्म-रूप है।

"मनुष्य अस्मेय विचार उक्त जो
वही व्रती आदरणीय है सदा,
न पालना जो जन ब्रह्मचर्य है
उसे नहीं आस्पद मोक्ष का मिला।

' परिग्रही है यह जो पदार्थ पै,
ममत्व मूर्छा रखता सदैव है,
धरित्रि में स्पृहणीय एक ही
सु वस्तु है निर्मम-भाव-कल्पना।

"नमोस्तु ते, देह सुखाति निस्पृहो
नमोस्तुते मोक्ष-स्वार्थ-विग्रही,
नमोस्तुते हे अपरिग्रही, प्रभो!
नमोस्तुते भक्त अनुग्रही, विभो!

—पद्मा। (श्री अनूप शर्मा) से साभार

यह केन्द्र—
यह परिधि—
यह वृत्त—

शिखरचन्द जैन

मौन साधक, लेखक, कहानीका

जब म नन्दन क बारे म सोचता हूँ, तब बरबस मुझे हंसी आ ही जाती है, चाहे मैं कितना भी अपने को रोकने का प्रयत्न क्यों न करू ! सारी दुनिया उस पर हंसी है, और मै भी उस पर हसू, यह अच्छा नहीं लगता। पर अच्छा लगे या बुरा, हंसी तो हंसा ही है, उसे रोकना किसी क वश की बात नहीं।

मैंने कई बार अपने मित्रों को समझाने का प्रयत्न किया है। 'हम मित्र रहे हैं। म उसे बचपन से जानता रहा हूँ। उसका सदा मैंने पक्ष लिया है।' पर मित्रों को मैं नहीं समझा पाया हूँ। इसलिये जब म आज आपको उसे समझाना चाहता हूँ और आप उसे न समझ पायें, और फिर भी हंसें, तब मैं बुरा नहीं मानूंगा। क्या म आपको उसे समझाना चाहता हूँ, यह तो म भी नहीं जानता, पर कोई मुझसे कहता है कि म आपको समझाऊं। इसलिये, बस, इसीलिये उसे आपको समझाना चाहता हूँ। म ही समझाना चाहता हूँ क्योंकि म उसका अभिन्न रहा

हूँ, और यद्यपि मैं स्वयं उस
हंसा हूँ, तो भी मैंने सदा उ
पक्ष लिया है।

बचपन स लेकर उसके जी
क अंतिम छोर तक मैं उसके
रहा। साथ रहते उसकी आकृ
रूप मुझे साफ दिखाई देते थे,
और बड़े दिखाई देते थे, ठीक
तैलचित्र क समान। अल्पश दु
के समान उसके सजीव आकृति
में मुझे धब्बे और रंग के ह
गहरे सगाव हा दिखाई देते थे।
उसका वह सजीव चित्र सच्चा
गया है। इस सच्चे चित्र में से
जैसे धीरे धीरे उसकी रूप रेखायें
गई हैं, वह धुधला हो गया है,
मुझे मालूम पड़ता है। अब
मालूम हा मैं म उसे देख पाता
इसीलिये कुछ उल्टी सी क्रिया
है। वह मुझे अब साफ साफ दि
लगा है।

मैं कैसे समझाऊं आपको, अब यह मेरे अधिक निकट है। पहले यह मुझ पर झुंझला उठता था, नाराज हो जाता था, कभी-कभी महीनों तक बोलता न था। और फिर किसी दिन हम मिलने को व्याकुल हो जाते, मिल जाते, घुल मिल जाते। जीवन में ऐसे अवसर अनेक आये गये। परन्तु अब वह सदा हंसता रहता है, दुनिया पर हंसता रहता है। दुनिया उसे भूल गई है। वह अब उस पर नहीं हंस पाता है। अब तो वह ही सब पर हंसता है। हंसता है बड़ी ही गम्भीरता से, निडर होकर। दुनिया ने उसे मूर्ख समझा। अब वह दुनिया को मूर्ख समझता है। इसलिये उस की दुनिया के सम्बन्ध की बात जब मेरी समझ में नहीं आती तब मुझे उसके इस दुराव पर झुंझलाहट होती है। कभी कभी मैं अधीर हो उठता हूँ कि मैं भी उसमें उसके साथ होकर इस तरफ देख सकता, तो क्या ही अच्छा होता।

पर, जो मैं हूँ, जो आप हैं, जो वह है, हम ऐसे ही रहे हैं, ऐसे ही रहेंगे इसलिये हम आकांक्षाओं और प्रतीक्षाओं से परे पहुँचकर कुछ देखें और समझ-सोच लेना चाहिये।

पहले मैं आपको उसके पागलपन या मूर्खता की ताजी बात ही सुनाता हूं। उसकी मरणासन्न अवस्था थी। हम सब उसके जीवन से निराश हो चुके थे। डॉ॰ दयाल आये थे और कह चुके थे, 'इसके बचने की अब कोई आशा नहीं, हम अब औषधि न देकर इसे सुख शान्ति से ही परलोक यात्रा करने देना चाहिये।' हम लोगों और उसके परिवार के लिये यह कोई अप्रत्याशित बात न थी। वह भी जानता था कि लोग और डाक्टर क्या कहते हैं। पर, उसने कभी अपने को बचाने के लिये नहीं कहा। और हमसे बराबर कहता रहा, 'मैं मरूंगा नहीं। यदि डॉ॰ दयाल क्या, स्वयं यमराज भी कहें कि मैं मर रहा हूँ तो मैं उनकी कथनी को असत्य सिद्ध कर दूंगा।'

मरने से पहले वह सदा प्रसन्न रहा। उसने कभी हमारी सेवा सहायता की आकांक्षा या अपेक्षा नहीं की। कभी-कभी पड़े पड़े ही वह इतने जोरों से हंस देता कि हमें उसके उन्मादग्रस्त या सन्निपात ग्रस्त होने का सन्देह होता, पर जब हम आते उसे सावधान और सचेत पाते।

जब जब कोई सम्बन्धी, पड़ोसी या मित्र आता और कहता 'सदा

घबराओ नहीं, तुम शीघ्र ही अच्छे हो जाओगे। अपने बाल बच्चों की चिन्ता मत करना नदन हम सब हैं किसलिये ? रम्मू-छम्मू तो हमारे ही पुत्र हैं।" उनकी इस सहानुभूति पर भी उसे हंसी आ जाती। वह अपने को रोक नहीं पाता। वह खिल खिला उठता और कहता "दादा सच तो कहते हो, मैं अच्छा तो हूं। घबराता कहाँ हूं। और, आपके समान पड़ोसी तो दुनिया की पीठ पर भी नहीं मिलेंगे। इसीलिये तो मैं निश्चिन्त हूं। बच्चे तो आपके ही हैं। आपके समान दयालु, पुण्यात्मा और सहृदय लोगों के बल पर ही तो कलयुग बरस रहा है। आपकी गहरी सहानुभूति के लिये आभार मानता हूं।"

ऐसा कुछ वह कहता और वे सुनते। वह हंसता, मुस्कराता और वे खीझते। उन्हें बातें चुभतीं। वे अन्यमनस्क होकर लौट जाते और फिर प्राय आने का नाम न लेते। उनके बच्चे जब रम्मू-छम्मू को पीटते, छकलते, मिठाइयाँ बनाकर मुंह बिचकाते तब वैसे उन्हें उनके करतूतों से भरे मन को भारी प्रसन्नता होती। वे तर्क पर रम्मू-छम्मू को दोषी और अपनी सन्तानों को निर्दोष पाते। रुग्णावस्था में ये प्रसंग रम्मू-छम्मू के पिता नदन के पास अवश्य पहुँचते।

और उठने में भी असमर्थ नदन उन्हें प्रेम से उठाता, पास बैठाता, प्रबोध करता और फिर स्खलन सेन देता। उनके जाने पर मुंह ढक कर रोता, कराहता, सोचता राग रोष गुण दोष मयी दुनिया की विडम्बना पर। सोचता, क्या सचमुच दुनिया असत्य है ? क्या इसमें असत्य ही सत्य है ? सब लोग क्यों न्याय और सत्य की बातें करते हैं। क्यों आदर्श के चरणों पर सिर झुकाकर उसकी अवहेलना करते हैं। क्यों न्यायहीन रिक्ता को राजरानी बनाकर उसकी पूजा करते हैं ? वह सोचता सत्य से लोगों को चिढ़ क्यों है। क्यों वे जानबूझकर, असत्य को सत्य मान कर उसकी अर्चना में ही निरन्तर लीन रहते हैं। इस तरह प्रतिदिन कोई न कोई पुजारी उसके पास आ ही जाता रूप रंग, आकृति और कथनों में वह भिन्न होता, पर नदन की दृष्टि पर वह अपना चिर परिचित नहीं होता, जो प्रतिदिन, प्रतिक्षण उससे मिलने आता रहा है। इसलिये अपने चिरपरिचित मित्र के मिलने पर बरबस वह हंस ही देता। उसकी बातें कौतूहल हास हास्य भरे वातावरण की सृष्टि कर ही देतीं। वे दोनों भीतर ही भीतर खिन्न पर ऊपर से प्रसन्न हो विदा देते-लेते।

मै आपसे पूछता हूँ, आप ही बतलाइये, क्या आप उस मनुष्य को मूर्ख न कहेंगे? जो बारबार ठगा कर कभी नहीं सम्भलता हो, फिसल फिसल कर भी सम्हलने की चेष्टा न करता हो। नदन ऐसा ही मूर्ख था। मनुष्य एक बार गिरकर फिर स सदा गिरने से बचता ह। एक बार ठगा जाता है तो गर्म दूध स जली बिल्ली क समान छाछ को भी फूंक फूंककर पीता है। पर नदन का मैन सीखते कभी नहीं देखा। वह जीवन भर भूलता ही रहा।

लगभग दस वर्ष पहले की बात है। हमारी मित्र मडली न प्रमाद र नाटक का अभिनय किया था। जब हमारी रिहर्सल प्रारम्भ हुई थी, तब हमने उसे भी बुला लिया था। उसकी हम आवश्यकता थी। उसने अभिनय में भाग लिया था, और वह कुछ निर्देशन भी कर देता था। हम लोगों क साथियों म एक बैंक बाबू भी थे। बड़े सज्जन, मिलनसार और अभिनेता। वे हमारी मडली में इतने घुलमिल गये कि उन्होंने अपनी घरू आवश्यकताओं और काम की ओर ध्यान नहीं दिया। काम से पृथक किये जा रहे थ। क्या था, व हमारे अभिनय म तल्लीन हो गये। उधर हमारा अभिनय पूर्ण हुआ, इधर बैंक बाबू की नौकरी। और पता तो मालूम हुआ कि बाबू साहब क पास चाय पानी के भी पैसे नहीं।

उनकी इस स्थिति का पता हमारी मडली को लगा। अभिनय तो समाप्त हो गया था, उसका अब शाप सम्भालना था। अधिक मित्र धीरे धीरे खिसक गये। रह गये हम चारों। बैंक बाबू गिरीशिकाय, दुखी हुए। उनके सिवा सम्पत्ति थे। उन्होंने ऐसा ही बताया। और शीघ्र ही रुपये वापस कर देने के अनेक आश्वासन दिये। म देना नहीं चाहता था, नदन क पास कुछ था नहीं, और होता भी तो म देने भी नहीं देता। पर पीछे मालूम हुआ गिरीश बाबू नदन के घर पहुचे। उससे अकेले में मिले। नदन ने पत्नी की स्वर्ण मुद्रा निकाली। वह गिरवी रखी गई और बाबूजी अपने घर भग गये। उस अगूठी को लेकर क्या हुआ, वह सब अलग कथा है। पर उस दिन स बाबूजी क कोई समाचार नहीं मिले। नदन को श्मशान तक पहुँचाने क बाद की मैं नहीं जानता।

म तो आज नदन क जीवन पर जनमत जानना चाहता हूँ।

स्वर्ण-द्वीप

हरिकृष्ण प्रेमी
अन्तस् के गायक
जन प्रिय नाट्यकार
सुलेखक

१

खड़े थे आसमान को छूने वाले, उनको देखा।
झोंपा अपनी कुटिया में, खिंची व्यथा की तीखी रेखा।
सागर के उस तट से दुनिया स्वर्ण लिए आती है।
। देख देख कंगालों की जलने लगती छाती है।

कल तक थे जो सखा हमारे
आज न हमसे हाथ मिलाते।
देख फटे से वस्त्र हमारे
नफ़रत करते, हँसी उड़ाते।

२

न पड़ा, "जगत से लड़कर स्वर्ण लूट कर ले आऊँगा।
ो रत्नों से सज्जित कर निरख निरख कर सुख पाऊँगा।"
बोलीं, "प्रिय, विभव प्राप्ति की धुन में तुम संतोष न खोना।
गँवा कर रह जाता है जीवन में रोना ही रोना।

प्रियतम, सोना तो कठोर है,
उसको पाकर क्या पाओगे?
[illegible]

३

पूरी हुई न बात तुम्हारी, टूटा खनाखन शब्द कहीं पर।
"इसने का अधिकार नहीं है," सोचा, "रह कंगाल यहीं पर।"
सजनि 'खनाखन' के शब्दों में सुन न सका तुम क्या क्या बोलीं।
तृष्णा ने मेरी नस नस में सहसा विष की पुड़िया घोली।
तुमने आँसू भरी निगाहों
से मेरी तृष्णा को तोला।
फिर बेबस भर हाथों से
ममता के बंधन को खोला।

४

जो नौका मिल गई उसी पर चढ़कर मैं लहरों से खेला।
और ले चला नाव जहाँ पर लगता है वैभव का मेला।
लहरें गरजीं उनसे बोला "तुमसा हूँ मैं बहुत चपल।"
आँधी आई, तूफानों ने वार किया, मैंने सब झेला।
पहुँच गया मैं स्वर्ण द्वीप में
किंतु सिपाही ने पथ रोका।
"यहाँ काम क्या है तुम जैसे
फटे हाल भिक्षुक लोगों का।"

५

सर सर में आग जल उठी, मैंने छीन उसी का भाला,
छाती छेद, एक क्षण में ही काम तमाम वहीं कर डाला।
जिसके पास शक्ति होती है उसकी ही है स्वर्ण बपौती।
हाथ रक्त से रँग कर मैंने दी जगभर को, सजनि, चुनौती।
वस्त्र फेंक कर नंगा होकर,
वसुंधरा पर खुलकर नाचा।
जिसने कहा, "होश में आओ।"
उसके जड़ता गया तमाचा।

६

मैंने कहा, "मूर्ख कपड़ों के भीतर सारा जग नंगा है।
जो खुल कर नंगा रहता है, धोखे बाजों से चंगा है।

इसी समय लक्ष्मी ने आकर पहनादी मुझ को वर माला।
फिर मेरे नग्न शरीर पर गौरव का पीताम्बर डाला।

ऋद्धि सिद्धि परियाँ भी आईं,
भर भर लाईं मद की प्याली।
भूल गया, तुम किए प्रतीक्षा
किस कुटिया में बैठीं, आली।

७

मुझको स्वर्ण द्वीप के लोगों ने तब अपना नृपति बनाया।
ताज उतार शीश से अपने लक्ष्मी ने मुझको पहनाया।
लक्ष्मी के वाहन ने सहसा सुन्दर मंगल-गान सुनाया।
उल्लू को मैना समझा था मैं लक्ष्मी की घर की माया।

एक लहर आई जो पल में
लूट ले गई वैभव सारा।
लक्ष्मी तो चंचल है उसको
कितने दिन मैं लगता प्यारा।

८

गया सिंधु के तट पर "तल में चलूँ" अचानक मन में आया।
"यह तो कायरता है, प्यारे!" सुना किसी ने गाना गाया।
देखा, एक नाव पर बैठी तुम मुसकाती गाती आती।
सारे जीवन में न सुनी थी मैंने ऐसी मधुर प्रभाती।

आकर बोली, "चलो प्राण धन,
फिर अपनी कुटिया में जावें।
महलों की बिजली तज, घर में
सरस स्नेह का दीप जलावें।



आत्मा का काया से-वियोग, मोक्ष है

जैन मान्यता के अनुसार जीव और देह (कर्म देह—पर द्रव्य) का एकमेकी (पर गुणाकारी) सम्बन्ध अनादि काल से चला आ रहा है। किंतु यह सम्बन्ध इसी बात पर चला आ रहा है कि जीव का देह (परद्रव्य = पुद्गल द्रव्य = पुद्गल के स्पर्श रस गंध वर्ण गुण तथा शब्दादिक पर्यायें = पंचेन्द्री के विषयों) के प्रति राग (पुद्गल द्रव्य में सुख की भ्रांति रूप) होने से जीव सुध भूल अपने आपको भूला हुआ है। किंतु जिस समय जीव करण लब्धि (अन्त करण प्राप्ति भेद विज्ञान) करके वीतराग होजाय तो यह कम से कम अन्तर्मुहूर्त में और ज्यादा से ज्यादा अर्द्ध पुद्गल परावर्तन (लब्ध किन्तु सान्त) काल में देह से सम्बन्ध विच्छेद (मुक्ति प्राप्ति) कर सकता है।

संसारी दशा में ये दोनों कैसे घनिष्ठ अभेद रूप से रहते हैं और भेद विज्ञान प्राप्त होने पर जीव कैसा निष्ठुर होकर सम्बन्ध विच्छेद कर देता है, बस इसी बात को बतलाने के लिये श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ... लिखी एक बड़ी ही मार्मिक क... नीचे दी जाती है—

"जीव में बड़ा ही अद्... कौशल है कि वह शरीर का प्रति... वीणा में ऐसा संगीत बजाता है... ऐसा दृश्य फैलाता है—कि जि... गंध स्पर्श शब्द आदि अपनी ज... छोड़कर एक सजीव वस्तु बन ... हैं।" "जीव अपनी अबोध नि... अनुगामिनी-को किस तरह ठ... है?" "वह देह के प्रत्येक परा... में एक प्रकार की आकांक्षा का उत्पन्न कर देता है। उस आन... की पूर्ति शरीर के द्वारा होना। उसका आँखों के साम... सौंदर्य उपस्थित करता है, सौंदर्य का अंत पाना आत्म शक्ति के बाहर की बात है। देह के पास जीव जो संगीत स्थित करता है, उसको अपने में करना अनन्त शक्ति की श... बाहर का काम है। और प्राणों के द्वारा उत्साहित संगिनी भी लता के समान ... शाखा प्रशाखाएं फैलाकर प्र...

होकर उसको आलिंगन-पाश में बांधता है। वह जीव को धीरे-धीरे प्रसन्न कर लेती है। बड़े बड़े वर्षों से छाया व ममता उसके साथ रहता है, और उसकी सेवा में कोई भी त्रुटि नहीं होने देता। "इस प्रकार प्रेम होने के पीछे एक दिन नाथ अपनी अनुरक्त और अनुगत देह लता को भूमि में लोटती-बिलखती हुई छोड़कर चला जाता है। जाने के समय जीव देह से कहता है—प्रिय, मैं तुमको अपने से अलग नहीं समझता था परन्तु (अब ही मैं—"अन्यः जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य" इष्टोपदेश ५० यह भेद विज्ञान सम्यक्-सम्यक् पा गया हूँ अतएव) आज तुमको अनायास छोड़कर जाता हूँ।" वह उस समय नाथ के पैर पकड़ कर कहती है—प्रिये, यदि तुम्हें अन्त को जाना ही था—यदि तुम मुझको मिट्टी में मिलाकर जाना ही चाहते हो—तो इतने दिनों तक (अनादि काल से अबतक) अपने प्रेम में मुझको भुला क्यों रखा? अपने प्रेम से तुमने मुझको महिमा वाली क्यों बनाया? हाय, मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ। मेरे किस गुण से तुम मुग्ध हो गये थे?—परन्तु इन प्रश्नों का उत्तर (सारे धर्म का) वह विरक्त (सिद्ध क्षेत्र निवासी) कुछ नहीं देता और चला जाता है।"

—विचित्र प्रबन्ध से

—दौलतराम मित्र

भगवान महावीर के सिद्धान्तों का अनुसरण शाश्वत सहज आत्मीय आनन्द का अमोघ उपाय है। प्रत्येक आत्मा में जो स्वभाव है—स्थायी रस है, उसका अनुभव पूर्ण निरीह नैसर्गिक भगवान का उपदेश हम सब आत्माओं का वैज्ञानिक सिद्धान्त है।

महावीर ने जो किया वही कहा, इसलिये उनकी उपासना मुमुक्षु की लोकोत्तर विभूति है।

—सहजानन्द

प्रत्येक धर्म के दो पहलू होते हैं—विचार और आचार। धर्म का आधार क्या है। इसे समझने के लिए विचार की आवश्यकता होती है, उसे दर्शन कहा जाता है धर्म को जीवन में उतारना यह आचार है।

—आचार्य तुलसी

गौतम ने कहा—

"मोक्षस्योपनिषत्सौम्य वैराग्यमिति गृह्यताम्।
वैराग्यस्यापि संवेदः संविदो ज्ञानदर्शनम्॥"

मोक्ष का उपनिषद् (आधार, मोक्ष ले जाने वाला) है सौम्य वैराग्य है ऐसा समझो। वैराग्य का भी उपनिषद् सम्यक् ज्ञान है और सम्यक् ज्ञान का उपनिषद् ज्ञान का दर्शन है।

"ज्ञानस्योपनिषच्चैव समाधिरुपधार्यताम्।
समाधेरप्युपनिषत्सुखं शारीरमानसम्॥"

ज्ञान का उपनिषद् समाधि समझो, समाधि का भी उपनिषद् शारीरिक और मानसिक सुख समझो।

"प्रश्रब्धिः कायमनसः सुखस्योपनिषत्परा।
प्रश्रब्धेरप्युपनिषत्प्रीतिरप्यवगम्यताम्॥"

शारीरिक और मानसिक सुख का उपनिषद् है परम शान्ति और शान्ति का उपनिषद् है परम प्रीति।

"तथा प्रीतेरुपनिषत्प्रामोद्यं परमं मतम्।
प्रामोद्यस्याप्यहृल्लेखः कुकृतेष्वकृतेषु वा॥"

प्रीति का उपनिषद् परम आनन्द माना गया है और आनन्द का भी उपनिषद् है कुकार्यों और अकार्यों से पीड़ा न होना।

"अहृल्लेखस्य मनसः शीलं तूपनिषच्छुचि।
अतः शीलं नयत्यग्र्यमिति शीलं विशोधय॥"

मानसिक पीड़ा के अभाव का उपनिषद् है पवित्र शील। इस प्रकार शील ही प्रधान है और (श्रेष्ठता की ओर ले जाने वाला भी है) इसलिए शील को शुद्ध करो।

"शीलनाच्छीलमित्युक्तं शीलनं सेवनादपि।
सेवनं तन्निदेशाच्च निदेशश्च तदाश्रयात्॥"

शीलन से शील कहा गया है। शीलन सेवन (बार बार के अभ्यास) से होता है सेवन किसी चीज के लिए उत्कट इच्छा होने से होता है और इच्छा उसके ही आश्रय से होती है।

"शीलं हि शरणं सौम्य कान्तार इव दैशिकः।
मित्रं बन्धुश्च रक्षा च धनं च बलमेव च॥"

शील, हे सौम्य, शरण है जंगल में पथ प्रदर्शक के समान है मित्र, बन्धु, रक्षक धन और बल है।

[अश्वघोष कृत 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य के १३ वें सर्ग से]

भारतीय दर्शन की परम्परा

रामचन्द्र श्रीवास्तव 'चन्द्र'

सहृदय आलोचक मनस्वी चिन्तक
साहित्यवेत्ता

किसी भी देश अथवा जाति की संस्कृति प्रवाहात्मक होती है। आरम्भ से, यदि उसके आरम्भ की कल्पना की जा सके तो, क्योंकि संस्कार शनैः शनैः होता है, अद्यावधि परिवर्तन चाहे जितने होलें, पर प्रवाहात्मक एक तानता कभी विलुप्त नहीं हो पाती। एक-एक लहर पर धारा आगे बढ़ती है, कभी अवरोध पा रुकती सी दीखती है, कभी उस अवरोध को धकेल फेंकती और तीव्र गति लाभ करती है कभी प्रवाह पीछे को लौटता दीखता है तो कभी भँवर पड़ते जाते, ऐसा प्रतीत होता है कि जल यहाँ का यहीं वर्तुलाकार हो रुक गया है। पर वह बढ़ता है, बढ़ता ही जाता है। व्यक्ति के विकास में जो शिक्षा का महत्त्व है, वही महत्त्व जाति के इतिहास में संस्कृति का है। शिक्षा व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और सामाजिक विकास के विषय को लेकर अग्रसर होती है और संस्कृति किसी जाति के शरीर (पारम्परिक संगठन), मन (सामूहिक चेतना), तथा समाज (अन्य जातियों से पारस्परिक आदान प्रदान, योगायोग) के विकास में साधन बनती है। संस्कृति शब्द ही वैसे तो प्रवाह का द्योतक है, पर उसमें स्थैर्य की भावना भी निहित है। संस्कृति गत्यात्मक भी है, स्थिर भी। जिस प्रकार किसी व्यक्ति की वर्तमान शैक्षणिक स्थिति को जानें और फिर किस प्रकार शनैः शनैः वह शिक्षा के इस स्तर को प्राप्त कर सका है यह जानने का प्रयत्न करें, इसी प्रकार किसी जाति की काल विशेष में शारीरिक, मानसिक और सामाजिक स्थिति जानना यह संस्कृति का स्थिर रूप है, पर यह रूप उसे कैसे प्राप्त हुआ यह उसका गत्यात्मक रूप है। व्यक्ति की शिक्षा और जाति की संस्कृति के काल विशेष में स्थैर्य का अध्ययन जब हम कर रहे होते हैं, तब भी संस्कृति का प्रवाह जारी रहता है, रुक नहीं जाता।

वैसे तो व्यक्ति के शरीर, मन और समाज को एक दूसरे से विलग

नहीं किया जा सकता, स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निवास रह सकता है और स्वस्थ मन ही शरीर और समाज को स्वस्थता प्रदान कर सकता है, फिर भी मन का महत्त्व विशेष है, उसका विकास शरीर और समाज दोनों को साथ रखता है, दोनों का स्वास्थ्य बनाये रखता है। यही बात जातीय संस्कृति की भी है। संस्कृति जातीय मन के विकास को लेकर अग्रसर होती है, ज्ञान विज्ञान के द्वारा वह उसके ज्ञान पक्ष का स्पर्श करती है, तो साहित्य-कलादि तथा धर्म को लेकर वह उसके हृदय का संस्कार करती है। इस प्रकार सुसंस्कृत ज्ञान और भावना को लेकर वह जातीय आचार का परिष्कार करती और जाति को इस योग्य बनाती है कि विश्व के सांस्कृतिक भाण्डार में योग प्रदान कर सके। व्यक्ति की भाँति जातीय मन भी ज्ञान, भावना और कृतित्व, तीन वस्तुओं में काम करता दीख पड़ता है। किसी जाति के ज्ञान, भावना और कृतित्व का विकासात्मक अध्ययन ही उसकी संस्कृति का अध्ययन है।

जिस प्रकार व्यक्ति में ज्ञान, भावना और कृतित्व एक दूसरे से विलग नहीं किये जा सकते, वे एक ही चेतना के तीन पहलू हैं, उसी प्रकार जातीय मन के ज्ञान, भावना एवं कृतित्व को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, फिर भी विचार की दृष्टि से हम एक एक पर पृथक् विचार कर सकते हैं।

ज्ञान पक्ष को यदि हम लें तो दर्शन के रूप में इसकी अभिव्यक्ति मुख्यतः परिलक्षित होती है, पर केवल दर्शन के रूप में ही ज्ञान की अभिव्यक्ति हुई है यह तो नहीं कहा जायगा। फिर भी एक बात बहुत ही ध्यान देने योग्य है, वह यह कि दर्शन को इतना व्यापक रूप प्रदान किया गया है कि ज्ञान विज्ञान के समस्त क्षेत्र उसी में समा दिये गये हैं और प्रत्येक क्षेत्र को दर्शन की आँख से ही देखा परखा गया है। इस प्रकार भारत में दर्शन की प्रधानता रही है। वेदों के काल से लेकर उपनिषद् काल पर्यन्त हम ज्ञान, भावना और कृतित्व का मेल कि समन्वय पाते हैं, या यों कहिए कि तीनों को विलगता प्रदान कर पृथक् पृथक् विकसित करने का प्रयत्न हम उस युग में नहीं देखते हैं। प्राकृतिक शक्तियाँ एक ही सत्ता की अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार की गई हैं, जिनके प्रति मानव ने अपने हृदय की समग्र वृत्तियों को अर्पित कर दिया है। एकेश्वरवाद (Monism) का मूल यहाँ विद्यमान है तो धर्म की दृष्टि से—भावना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से—एकेश्वर की भावनात्मक आराधना भी वहाँ विद्यमान है और जातीय कृतित्व की अभिव्यक्ति के रूप

में 'मगच्छध्व, मवदध्व सवोमनासि जानताम्' की ध्वनि उस युग म सुनाइ पड़ती है। जिसने एक को पहिचाना है, उसी एक की आराधना की है, वह अपने जैसे अन्य प्राणियों के साथ मिल कर एक हो जाने का मदग क्या न प्राप्त करेगा। भारत की यह मौलिक दृष्टि—ज्ञान, उपासना और कम तीनों क्षेत्रों में आदि-मूला होते हुए भी अपने म समग्र है, अपने में पूण है। इसी कारण वेदों को ईश्वरीय ज्ञान और 'सब सत्य विद्याओं की पुस्तक' माना गया है। यह ज्ञान, धम और कम विचार की कसौटी पर कस कर चाहे न देखे गये हों, चाहे विश्लेषण और सश्लेषण के खराद पर न चढ़ाये गये हों, पर भूगभ से निकाले गये हीरे के समान अपने में अपने मूल्य को समाये हुए हैं, जिसको लेकर आगे पहल निकालते रहने भर का काम ही सम्पादन होता रहा है। ऐसा करने से हम तीनों ही क्षेत्रों म उस मौलिक हीरे के अनेकानेक पहल देखने को मिले हैं जिनकी ज्योति के प्रकाश म सम्पूण विश्व आपूर होगया है।

उपनिषद्-काल म हमारी दृष्टि अपनी ओर भी गई है। जब मानव विश्व में चेतना देखता है तो अपने म भी चेतना का आभास पाता है। वेदों म 'मैं' का उल्लंघन नहीं है, पर मैं क्या हू को अपना वह क्या है, कैसा है—'कस्मैदेवाय हविषाविधेम' की ध्वनि ही सुन पड़ती है। उपनिषद म चेतना का द्वैध आकर उपस्थित हो जाता है। 'द्वासुपर्णा सयुजासखाया ' का रूपक इसी ओर को इंगित करता प्रतीत होता है। 'प्रकृति रूपी वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं, एक उसका फल खाता है और दुःखभागी बनता है, दूसरा उसके फल को नहीं भोगता और दुःख से मुक्त रहता है।' उपनिषद् के उक्त रूपकाश्रित वाक्य में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों के अस्तित्व और पारस्परिक सम्बन्ध का इंगित है, पर वास्तविक लक्ष्य दो पक्षी ही हैं। इसम यह तो इंगित मिल ही जाता है कि आगे चल कर विचारक के हेतु एक दो नहीं, तीन-तीन सत्ताएं चुनौती प्रस्तुत करती हैं और अपने अस्तित्व एव पारस्परिक सम्बन्ध के हेतु विचारक का आह्वान करती हैं। षट्दर्शन-युग इसी चुनौती का उत्तर है। ईश्वर, जीव, प्रकृति क्या हैं, इनके पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, यही तो दशन का विषय है—यही क्या स्वतन्त्र रूप से यह तीनों सत्ताएँ ही दशन का विषय हैं और रही हैं। शाखाओं में भी वेदांत और सांख्य इन दोनों का उक्त दृष्टि से विशेष महत्व है। वेदान्त को लेकर मत भेद है। एक मत तो यह है कि वेदान्त ने अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादन

नहीं किया। वह ईश्वर और जीव की सत्ता पृथक् स्वीकार करता है। दूसरा मत वेदान्त में अद्वैत ब्रह्म की सत्ता स्वीकार करता है। सांख्य के विषय में भी मतभेद है। एक मत प्रकृति पुरुष दो को ही स्वीकार करता है और पुरुष का अर्थ आत्मा पर मानता है और "ईश्वरासिद्धेः" सूत्र को प्रस्तुत कर ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। दूसरा पक्ष कहता है कि 'ईश्वर असिद्ध है' इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह है नहीं, वह है तो पर असिद्ध है। × जिन तर्कों से प्रकृति पुरुष (आत्मा) की सिद्धि सम्भव है उन तर्कों के आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। वेदान्त और सांख्य विषयक उन मतों में से कौन सा उचित है कौन सा अनुचित यह निर्णय देना हमारा काम नहीं, पर इतना अवश्य है कि वेदान्त और सांख्य को लेकर दो परस्पर विरोधी दल उपस्थित हो गये हैं एक ब्रह्म को स्वीकार करता है तो दूसरा प्रकृति और जीव को। पर यह साक्षात् विरोध भी शंकराचार्य के पश्चात् दीख पड़ता है।

जैन और बौद्ध धर्म के दार्शनिक पक्ष को अपने से पूर्व यह दो मुख्य प्रवृत्तियाँ प्राप्त हुईं। एक प्रवृत्ति ईश्वर और उसके कृतित्व को मानती थी और दूसरी प्रवृत्ति प्रकृति और पुरुष को। प्रकृति का प्रसार अपने चारों ओर ही है, हमारे अपने शरीर का निर्माण भी प्राकृतिक है, तब उससे मुँह मोड़ा नहीं जा सकता। हम चलते हैं, बोलते हैं, हँसते-खेलते हैं, विचार करते और सुख दुःख का अनुभव करते हैं तब हम केवल प्रकृति नहीं हैं, कुछ और भी हैं। बस यह कुछ और ही आत्मा है, प्रकृति के साथ निवास करने वाला पुरुष है। Descarte डेकार्ट ने भी कुछ ऐसा ही तर्क दिया था यह कहते हुए—'Cogito ergo sum' अर्थात् 'I Think, therefore I am' इससे आगे बढ़ कर यह भी कहा जा सकता है कि—'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।' और कहा भी गया है, भारत में भी, पश्चिम में भी परिणाम स्वरूप एक ओर चारुवाक् है जो कहता है—'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' और यही 'घृत' मदिरा का रूप भी ले ही लेता है। 'पीत्वा पीत्वा पुनः पुनर्जन्म न विद्यते।' पश्चिम में भौतिकवाद का प्रचण्ड रूप Epicureanism और Hedonism के रूप में प्रतिफलित हुआ। कौन कह सकता है कि योरुप के 'खाओ उड़ाओ' जीवन की तह में आज भी Epicureanism की

× पाश्चात्य दार्शनिक ह्यूम से मिला कर देखिए।

लहर नहीं दौड़ रही है, सैद्धान्तिक दृष्टि से दर्शन भले ही आगे चला गया हो, जीवन उसका साथ नहीं दे सका।

अस्तु, बौद्ध और जैन दोनों ने देखा ईश्वर के नाम पर निकृष्ट वैदिक धर्म की छत्रछाया में क्या कुछ नहीं हो रहा था। धर्म के नाम पर हिंसा! उस धर्म को धर्म कौन कहेगा? ऐसे धर्म और ईश्वर के प्रति किस की आस्था रह जाएगी? इस प्रतिक्रिया ने बौद्ध और जैन धर्म को ईश्वर-पराङ्मुख कर दिया। ईश्वर कर्ता के रूप में कदापि नहीं, मानवात्मा आचार शोधन के सहारे स्वयं परमात्मा बन सकता है, जैन धर्म ने प्रतिपादन किया। बौद्ध धर्म ने इस विषय में एकदम चुप्पी साधी। आत्मा के विषय को लेकर बौद्ध धर्म क्षणिक चेतना भर को स्वीकार कर सका, पर न जाने कैसे पुनर्जन्म के सिद्धान्त को वह अस्वीकार न कर पाया और यों स्थायी सी आत्मा को स्वीकार कर गया। यदि पुनर्जन्म का सिद्धान्त न माना गया होता तो बौद्ध धर्म की नास्तिकता भी रंग आज के विज्ञान के युग के अनुरूप होती। एक बात ध्यान देने की है कि इन दोनों धर्मों में से एक ने आत्ममीमांसा के क्षेत्र में मध्यम मार्ग को स्वीकार किया है तो दूसरे ने स्याद्वाद को। यद्यपि दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं, तथापि दोनों के मूल प्रेरक तत्व एक ही हैं और परिणाम भी एक ही अर्थात् साधक को सहिष्णुता प्रदान करना। मध्यम मार्ग आज के Pragmatism को साथ में रख कर समझा जा सकता है और स्याद्वाद Agnosticism को सम्मुख रख कर।

सांख्य की भाँति जैनधर्म में प्रत्यक्ष प्रमाण का विशेष महत्व है इसी कारण सांख्य प्रतिपादित प्रकृति और पुरुष सम्बन्धी प्रवृत्ति ही जैन द्वारा मान्य हुई है। यह जैसे कि वेदान्त के उपर्युक्त दोनों परस्पर विरोधी तत्त्वों का विरोध करता है। जैन धर्म भिन्न दर्शन की इस मान्यता ने ही श्रीमच्छंकराचार्य की प्रतिक्रिया को जन्म दिया। उन्होंने पूर्वोक्त द्वितीय पक्ष अर्थात् वेद प्रतिपादित ब्रह्म की सत्ता को ही स्वीकार किया और स्पष्ट समर्थन के निमित्त 'सार सूत्रों' के आधार पर ही अपना मत आग्रह निर्मित किया। उन्होंने 'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' के रूप में ब्रह्म को स्वीकार किया। एक बात ध्यान देने की है उन्होंने सृष्टि के रूप में ईश्वर को न मान कर विवर्तवादादि के रूप में ब्रह्म की अभिव्यक्ति को ही सृष्टि माना। क्या इस रूप में उन्होंने दिग्विजय करने वाले 'शंकर' ने जैन धर्म से पराजय स्वीकार कर ली? आखिर तो कुछ ऐसा ही हाल है।

शंकर के समय तक मूर्तिपूजा और साकार भक्ति भारत में आ चुके थे और उनका प्राबल्य हो चला था। पर शंकर के अद्वैत से उनका मेल नहीं बैठता था तब द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, विशिष्टाद्वैत के रूप में अद्वैत का विरोध करने के हेतु जैसे कि उसके ही चार आत्मज खड़े हुए। पर अद्वैत का बोल बाला बना ही रहा। आधुनिक-काल में आकर उसका पश्चिमीय संस्करण ब्रह्मोसमाज के रूप में व्यक्त हुआ, तो पश्चात् श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ के रूप में उसका भावात्मक मधुर रूप व्यक्त हुआ। पर अपनी यात्रा में शंकर के ब्रह्मवाद के पोत को स्वामी दयानंद के 'त्रैतवाद' की ओर से ऐसा भारी ठोकर लगी है कि भविष्य में उसके गर्क हो जाने की सम्भावना है। पक्षपात का कुहासा जब विदूरित हो जाएगा तब वास्तविकता का पता लगेगा और तब शंकर का ब्रह्मवाद गर्क होने का घर्ग दे रहा होगा।

संस्कृति

सीधे सादे शब्दों में संस्कृति का तो मैं यही अर्थ मानता हूँ कि यह सम्पूर्ण मानव-जीवन का विकसित रूप है। यह केवल सभ्यता का आध्यात्मिक पहलू नहीं है जैसा अक्सर संस्कृति का अर्थ लोग लगाते हैं। यह मानव समाज की प्रगति के लिये दिग्दर्शक यन्त्र और नाविक दोनों है। यह मानव जीवन को सार्थक बनाता है और उसे पशु तथा उद्भिज जीवन से पृथक् करता है। संस्कृति से ही मनुष्य प्राथमिक अवस्था में जीवन के वास्तविक अर्थ और मूल्य को समझता है और अन्त में अपने उस वास्तविक लक्ष्य तक पहुँचता है, जहाँ उसे एकमात्र अनन्त शान्ति, प्रेम, आनन्द, मुक्ति तथा मंगल प्राप्त होते हैं।

—प्रो० तान युन शान

(चीनी विद्वान)

आज का विश्व—
महावीर के पथ पर

मुनि श्री सुशीलकुमारजी
मेधावी चिन्तक
सिद्ध निबन्धकार

मानवीय उदात्त भावनाओं से ओतप्रोत महावीर को रस्किन जैसा उग्र और टालस्टाय जैसा शांत विचारक नहीं कहा जा सकता—क्योंकि वे जगत में एकांगी रूप हैं, वे तो साक्षात् मानव, व्यक्तित्व प्रधान विभूति अनोखी प्राण प्राण में अन्तर्व्याप्त सी निराली ज्योति और जन-जन के सूक्ष्मतम जीवन में उलझी और फंसी हुई मानसिक गुत्थियों को सुलझाने वाले दीन हीन त्राता भगवान ही कहे जा सकते हैं जो कि मानव का ही उत्कृष्टतम रूप है।

उनका गौरवर्ण, स्निग्ध ललाट, प्रचण्ड चेहरा और तेजस्वी आँखें तथा मुस्कान यह सब मानव जैसी ही थी। उनमें कुछ भी तो अन्तर नहीं था!!

उनका स्वभाव बड़ा ही कोमल नवनीत से भी अधिक द्रवणशील, उनका बौद्धिक विकास बहुत ऊँचा, उनके जीवन की चिन्तनशील शिराएँ बहुत गहरी और मजबूत किन्तु सब मानव की तरह।

देह, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, और आत्मा सब हमारी ही तरह थी।

उनकी परिस्थिति हमारे से अधिक विकट। धर्मान्धता, मतान्धता, कट्टरता, महामूर्खता, निष्ठुरता और अमानवीयता आज के जमाने से भी ज्यादह। पशुओं को अग्नि में फूँक दें और नारी को पैरों की जूती समझें ऐसा विकट समय था तब।

उनकी आदर्श अभिरुचि में महात्मा गांधी से बहुत सारी मिलती-जुलती थी। विनोबा, मशरूवाला और न्यूटन जैसी सादगी उनके आगे पानी थी। ये तो मोटे झोटे वस्त्र पाते तो हैं किन्तु वे तो इस गरीब भारत का एक तन्तु भी नहीं लेते थे, सब गरीबों के लिए छोड़ हुए थे। लेकिन ये सब कुछ मिलमिला कर भी उनकी तस्वीर नहीं बनती। अकेले गांधी को भी उनका उपमान नहीं रख सकते क्योंकि महावीर को शब्दों के रंगों में उतारना कठिन ही

नहीं अपितु असम्भव है। वे तो अनिर्वच नीय साहसी, प्रयोगात्मा, दार्शनशास्त्री युग-द्रष्टा और युग-स्रष्टा नर के रूप में नारायण थे।

महावीर फ्रायड जैसे स्वप्न सिद्धान्ती और नीत्शे, पैग, वासनावद्ध, तथा मार्क्स जैसे भौतिकवादी नहीं थे। यह ठीक है कि अपरिग्रह और साम्य भावना के वे सर्वप्रथम न महात्मा अवश्य थे।

महावीर कपिल जैसे ज्ञान प्रधान और पातञ्जलि जैसे क्रिया प्रधान भी नहीं थे। वे मीमांसकों जैसे धर्म प्रधान और वेदान्तियों जैसे नितान्त ब्रह्मवादी भी नहीं थे, गौतम जैसे ईश्वर समर्थक और चार्वाक् जैसे ईश्वर विरोधी भी नहीं थे। भगवान् क्या थे यह कहना कठिन अवश्य है किन्तु असम्भव नहीं। हां, अनुमान का अवलम्बन तो लेना ही पड़ेगा। महावीर साम्यवादी होने पर भी ट्राटस्की और लेनिन जैसे खूनी क्रान्ति के समर्थक नहीं थे। वे थे सब कुछ और कुछ एक नहीं थे। न जड़वादी और ब्रह्मवादी नहीं होने पर भी जड़ और चैतन्य की सत्ता को बिल्कुल सन्तुलित रूप में स्वीकार करते थे। किन्तु जड़ से चैतन्य और चैतन्य से जड़ की उत्पत्ति को वे भ्रान्त कल्पना मानते थे।

महावीर आज के कवियों जैसे आरम्भक नहीं थे अपितु साधक थे। अटारियों और महलों के झरोखों से भूखों, नंगों, दरिद्रों और मजदूरों के चित्र खींचने वाले आज के प्रगतिवादियों जैसे भी महावीर नहीं थे। विधवाओं और समाज की दुरवस्था पर आँख पर धूप लगाकर रोने का अभिनय करने वाले आज के नेताओं जैसे भी महावीर नहीं थे। और न ही यथार चित्र खींचने वाले साहित्यकार ही वह थे। महावीर न कोरे आदर्शवाद पर ही भूलते थे और न ही वस्तु यथार्थवादी की तरह कांटे बिखेरते थे। वह तो जीवन के पारखी, तपस्या की भट्ठी में समूचा सुख-सुविधाओं को झोंक देने वाले उद्भट साधक, जीवट और सत्य का साक्षात् करने वाले जीवन-द्रष्टा महापुरुष थे।

वे महानतम थे और उनकी साधनाएँ उससे भी अधिक ऊँची और महान थी। किन्तु वे थी सब विश्व कल्याण के लिये। संसार के समस्त प्राणियों की रक्षा और दया के लिये (सव्वजग जीवरक्खण दयट्ठाए) समाज के धारण और पोषण के लिये क्षेम और शान्ति के लिये। (सत्यपद्म अहिंसा तणथावर क्षेम करी सव्व जगजीव हियं निव्वदवत्तेहिं)

¹उनका जन्म भारतवर्ष के बिहार प्रान्त के कुण्डलपुर नगर में हुआ था। जिस प्रकार एक मानवी बालक के लिये मंगलोत्सव किया जाता है उसी प्रकार

, उससे भी अधिक राजसी ठाठ बाट साथ उनका जन्म मंगल मनाया [illegible] था।

बाल्यकाल के खेल उनकी साह[illegible]सता, वीरता, मातृभक्ति, वात्सल्य [illegible] बालसुलभ चेष्टाओं से भरपूर [illegible] हैं किन्तु साहित्यकारों ने उनको [illegible] अतिरंजित रूप दे दिया है कि आज के बुद्धिवादी युग में बिल्कुल [illegible] मानवीय से लगते हैं, और जो उनमें [illegible]धारा तथा चमोट, सहज स्वाभा[illegible] होना चाहिए थी वह दीखती नहीं। [illegible] सन्दिग्ध अवस्था में हम उनकी [illegible] की पुण्यस्थली में न ही कुछ [illegible] का प्रयत्न करेंगे।

महावीर २८ वर्ष तक जीवन के [illegible]त्मक दृष्टिबिन्दु का सर्वाङ्गीण [illegible] करते रहे। उससे उन्हें यह [illegible] न प्राप्त हो सकी। इससे [illegible] बढ़कर उन्होंने ऐहिक जीवन की [illegible] प्रवृत्तियों पर निषेधात्मक दृ[illegible] को परखने का प्रयत्न प्रारम्भ [illegible]या। यह उनके जीवन का कठोर [illegible] कष्टभरा अध्याय था, किन्तु उन्हें [illegible] सफलता की झलक दिखाई दी [illegible] वे एक दम इस प्रयत्नात्मक [illegible] से उलझ गये हुये और दूसरे ही क्षण भयङ्कर तपस्या रोंगटे खड़े कर देने वाली विपत्तियाँ और दिल को कँपा देने वाली दारुण व्यथाएँ इनके पीछे लग गईं।

मोह और अज्ञान की जागतिक रिश्तेदारियों पर खड़ी हुई दीवारों को लाँघने में उन्हें कुछ देर भी नहीं लगी। वे संसार की आदिम अवस्था में रहने वाले इन्सान की तरह अपरिग्रही, बनावटी, और कृत्रिमताओं के त्यागी महावीर राजसी सुख सुविधाओं को ठुकराकर विश्व के अज्ञान धूम्रखंडों को नापने चल पड़े। यही उनका महाभिनिष्क्रमण था। खोजने-परखने की धुन में उन्हें ये [illegible] चेतना प्रदान की थी। उस संक्रान्ति काल में पनपते हुये [illegible] के महान् विजेता महावीर के जीवन के संघर्षशील हृदय पर, चोट करने वाले मर्मस्पर्शी सम्मरण, [illegible] अनुचित नहीं लगेंगे।

महावीर कठोर साधना के [illegible] पर बढ़ते हुये चले जा रहे हैं, [illegible] एक मठ आ जाता है, [illegible] ठहरने का निमन्त्रण [illegible] है, [illegible] मगधीश महावीर [illegible] मित्र अचानक पहचान [illegible] है, [illegible] सिद्धार्थ के [illegible] महल के [illegible] है। भगवान [illegible] मांगते हैं, [illegible] उमड़ता [illegible] पड़ता है [illegible] है। [illegible] के दिन [illegible] का एक [illegible] [illegible]

यहाँ ही ठहरें और उधर महावीर भी उपयुक्त समाधि स्थान देखकर स्वीकृति दे देते हैं और चार मास के लिये निरन्तर ध्यानस्थ हो जाते हैं।

सावन के महीने में उमड़ने वाले बादल भी उस ग्राम से रूठे रहते हैं, पानी की एक बूंद भी नहीं बरसती। पशुओं और मनुष्यों में त्राहि त्राहि मच जाता है। भूख से तड़पती हुई गायें झोंपड़ी के तिनके तिनके चाट जाती हैं। महावीर उपेक्षित समाधिस्थ रहते हैं। कभी महन्त इधर आ निकलता है, ऊपर नंगा आसमान और नीचे नंगा झोंपड़ी महन्त के लिये घृणा, ग्लानि और क्रोध का विषय बन जाती है। बोल उठता है 'अरे ओ योगी! इस झोंपड़ी का घास भी न बचा सके, ठीक मेरे मित्र सिद्धार्थ ने जो तुम्हें राज्य न दिया नहीं तो वह भी कङ्गाल हो जाता।'

ध्यान मुद्रा में निमग्न महावीर को आकुल महन्त की मोहमयी वाणी सुनाई पड़ती है। उधर उनका मन इस स्वार्थी मनुष्य पर द्रवित हो जाता है और वे सदा के लिये किसी एक बने बनाये मकान में रहने की अपेक्षा जङ्गलों खण्डहरों और भग्न मन्दिरों का आश्रय लेने की प्रतिज्ञा करते हैं।

महावीर चल पड़ते हैं, वृक्षों की गोद में और निर्जन और निःस्वन वन में जा अपनी साधनाएं प्रारम्भ कर देते हैं। मकानों का अपनाना मठ स्थापना के लिये नितान्त अभिशाप है क्योंकि इस अकर्मण्यता की भूमि में मोह का, अविद्या का, और अधम का बीज बोया जाता है। संसार की कितनी ही भव्य तम विभूतियों को इस मठ के शठ ने निगल कर राक्षसी चाल। पहनाया है।

"मानव के चिरकाल रूप का प्रतिनिधि शूलपाणि यक्ष और सङ्गम दोनों ही भगवान के मर्मस्पर्शी पीड़क और दारुण कष्टदायक बने और वे समस्त विपत्तियों की घनीभूत नश्चियों को भी पार करते चले जाते हैं। हो सकता है कि ये उनका राक्षसत्व पर मानवता की विजयी उद्घोष हो अथवा मानवीय हृदय के अन्तराल में मचे रहने वाले देवासुर सङ्ग्राम का यह पार्थिव रूप कथाकार द्वारा अभिव्यक्त किया गया हो। कुछ भी हो यह तो मानना ही पड़ता कि सिद्धि सोपान पर चढ़ने से पहले सूफियों में शैतान, योगियों में दयाङ्गना और अन्य तपस्वियों में राक्षसों से तुमुल युद्ध कर के ही साधक आगे बढ़ सकता है अन्यथा नहीं।

साधना में आने वाले रम्भा और दिल तोड़ देने वाले राक्षसी प्रहारों को पारकर आगे बढ़ने की भावना की पृष्ठ भूमि में हम महावीर के हृदय में धधकने वाली खोज की चाह ही देखते हैं।

दुःख उनके जीवन में सबसे अधिक जीता-जागता खोज करने की अन्तर् जिज्ञासा का प्रतीकता सदा ही अनुभव होता है। वे संसार भर के समस्त प्राणियों को एक ही चाह और एक ही राह कि दुःख कैसे दूर हो और सुख का मार्ग कौन सा है। वह केवल "दुःख क्षेत्र कह" इस समस्या का सफल समाधान प्रयोगात्मक रूप में ढूंढना चाहते थे। जिधर दुःख होता उधर वे उस दुःखदर्द के दर्शन करने अवश्य जाते उन्हें मालूम हुआ कि इस मार्ग में फणधर विषैला सर्प अपनी जलती अंगार सी दृष्टि से प्राणियों को ढूँढ लेता है। उसकी आँखें आग बरसने वाले पत्थरों की तरह ज्वाला उगलती है।

सामान्य मनुष्य के लिये इतना ही सुनना पर्याप्त था, दिल काँप जाता और भैरवी, भयानक तस्वीर भी अपने मन में बनाकर भाग खड़ा होता। किन्तु वे लोह पुरुष, फौलादी दिल वाले महावीर हँसते हँसते उधर चल दिये।

सर्प ने आहट सुनी, फण उठाया और एकदम फुफकारता हुआ महावीर पर टूट पड़ा। सीधा अपना विषबुझा दाँत महावीर के पैर में चुभो दिया और उधर भव्य स्निग्ध मन्दमुस्कान बिखेरते हुये भगवान ने भी उसे प्यार भरी दृष्टि से देखा। सर्प काटता रहा और महावीर निश्चल तथा निस्पन्द खड़े उसके काटने में सहयोग देते रहे। भय, डर और आशंका की गलियों में घुसने वाला विष उन निर्भीक भगवान पर कुछ भी असर नहीं कर सका। वह गरल अमृत बन गया और प्रेम कुण्ड से बहने वाले उस प्रमिल रस को पीकर वह सर्प भी उनकी ओर देखने लगा। मृदु प्यार अलौकिक आशीर्वाद विलक्षण अनुभव, दिव्यमूर्ति और भव्य ललाट की स्नेह स्निग्ध धारा में डूबकर साँप अपने को खो बैठा, भूल गया, अतुल आनंद में मुग्ध हो गया। मानवीय शांति के आगे साँप को भी घुटने टेकने पड़े। यह था मानवता का दिव्य चमत्कार जिससे वह सर्प भी मानवता का अमर पुजारी बन गया। और उधर साधक महावीर एक विज्ञानवेत्ता की तरह अन्वेषण करते रहे। उन्हें सफलता मिली कि सचमुच दुःख मानव को विध्वंसात्मक बुद्धि के कारण भोगना पड़ता है। यह उसकी स्वयं की उपज ही है। दुःख और सुख इच्छाओं के दास मानव को अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों पर थोप कर किसी किनारे में कल्पना को टिकाये रखने पर विवश होना पड़ता है। यदि

परिस्थिति ही दुःख और सुख का उपादान कारण होती तो एक ही परिस्थिति को मानव समुदाय दुःख और सुखात्मक रूपों में क्यों ग्रहण करता ? पुत्रोत्सव माता पिता के लिये हर्षोद्रेक का और शत्रु के लिये दुःखोद्रेक का क्यों कारण बनता ? मानना पड़ेगा कि दुःख सुख की कल्पना पर प्रतिष्ठित हैं और कल्पना इच्छा पर, इच्छा मोह पर, मोह अविद्या और अंधकार पर आश्रित है। दुःख का मूल कारण हमारी आन्तरिक घृणा है जिसने द्वेष और इसके पूरक के रूप में राग की स्थापना की है। घृणा और आसक्ति से उत्पन्न सुख और दुःख मानव की आत्मा से सम्बन्धित न होकर अधिक से अधिक व्यवहारात्मक बुद्धि से ही सम्बन्ध रखते हैं। फिर भी हम उसे भ्रान्तिवश अपना मान रहे हैं। इस अपनत्व की सीमाबन्दी से निकलते ही दुःख की कोई रूपरेखा ही नहीं रहती। यह था जीवन दर्शन महावीर का—जिसकी खोज में महावीर सुख समृद्ध देश विहार छोड़कर हरियाली के मुल्क लाट देश में कितने ही बार मय और अनपढ़ बच्चों काम विह्वला कामिनियों और गंवार मूर्खों तथा दरिद्र कुत्तों का शिकार होना पड़ा। कुत्ते काटते थे, स्त्रियें तंग करती थीं, बच्चे पत्थर मारते थे और गंवार मनुष्य चोर उचक्का समझ पीटते थे। किन्तु महावीर मनुष्यत्व में छिपे हुए राक्षसत्व और पशुत्व से परे देवत्व का सम्पूर्ण दर्शन करना चाहते थे पाशविक और राक्षसी रूप को विभी... पिका मानवीय घृणा का संघात रूप है जिसे देवत्व ने मानवीय जगत से निष्काषित कर दिया है। महावीर उस देवत्व प्रतिष्ठित मानवता की पराकाष्ठा को उपलब्ध करने के उद्देश्य रखकर चले थे। यही कारण है कि वह अपनी खोज के लिये जीवन का तरह जान को हथेली पर रख कर बढ़ते ही चले गये और अन्त में जाकर सफलता प्राप्त की।

पिछले जिन कथानकों को ... रह गया हूं ये कहानियां नहीं हैं अपितु एक मानवीय जीवन की आध्यात्मिक लड़ाइयां हैं। महावीर लड़े थे, दुष्यन्त योद्धा की तरह, और इन युद्धों में जो जो सफल अनुभव उन्हें प्राप्त हुए उसीसे उन्होंने इन सफल युद्धों की अभिव्यक्ति की ... महात्मा गांधी अहिंसा को राजनीति में प्रयोग करके देखने वाला पहला आदमी पैदा हुआ और आध्यात्मिक अहिंसा दर्शन का द्रष्टा इस जमीन पर अलौकिक महामानव भगवान महावीर हुआ।

मठ की कहानी में लोभ और...

त्याग की लड़ाई सप के रूपक में हिंसा और अहिंसा का युद्ध, समम और शल पाणि यक्ष की आख्यायिका में राक्षसत्व और मानवता का संघर्ष लाट देश के सवारों का चोर समझने की भ्रान्ति म अनधिकार और स्वत्व का द्वन्द्व, गामिनियों के कथन में व्यभिचार और ब्रह्मचर्य की हार-जीत का खेल दुःख और सुख को खोजने की प्रवृत्ति म सत्य और असत्य को ढूंढने की चाह ही मुख्य रूप से दिखाई गई है। इन सब घटनाओं में सफलता महावीर की ओर रही है, आत्मविश्वास, अलौकिक श्रद्धा और जीवन दर्शन भगवान् को प्राप्त हुआ है इसीलिये हिंसा से अहिंसा को, असत्य से सत्य को, चौर्य से अचौर्य को, व्यभिचार से ब्रह्मचर्य को और लोभ से सन्तोष को मानवता का वास्तविक रूप मानने का ही अनुरोध किया है। हिंसा और अहिंसा को आप इतने व्यापक रूप से समझ लीजिये कि केवल हिंसा म समस्त अमानवीय प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है और अहिंसा के रूप में समस्त मानवता के नियमों का। एक दिन था जब महावीर न विश्व हित के लिये विश्व की ओर प्रयाण किया था, व्यष्टि से समष्टि की ओर, अखण्ड से ब्रह्माण्ड की ओर और सीमा से असीमा की ओर ही वे चले थे।

आज वह भी युग आया है कि विश्व महावीर की ओर चला है। अशान्त सभ्यता के चल पलनों में विहार करने वाला आज का इन्सान सुखशान्ति की सांस लेने के लिये अहिंसा की ओर झांक रहा है। भौतिक विज्ञान का उपचय ह्रास के गड्ढे में गिरा जा रहा है, अन्तिम बुझते दीपक की चमक अणुबम्ब, उद्जन बम्ब के रूप में चमक रही है विश्व के विनाश स डरी युद्ध त्रस्त जनता सत्य अहिंसा का गान सुनना चाहती है अणुशक्ति के उपासक रूस और अमेरिका भी शान्ति के लिये छटपटा रहे हैं। अहिंसा का विज्ञान और विधेयात्मक दृष्टिकोण समझने के लिये वैज्ञानिकों ने और राजनीतिज्ञों ने मिल कर भारत में आकर समझने का प्रयत्न कर रहे हैं।

हम अहिंसा का महत्त्व न भी कहें और भगवान महावीर ने अनुभव तथा हिंसा का भैरव रूप अपने सामने रख लें तो भी हमारे सामने अहिंसा की उपयोगिता स्पष्ट समझ में आ जायगी। देखिये, सामाजिक स्थिति में यदि हम एक ऐसे दुर्दिन की कल्पना कर लें जिस दिन केवल मानव कोरी हिंसा, कोरा-असत्य

और चोरी तथा व्यभिचार का आश्रय ले ले तो क्या आप मान सकते हैं कि एक क्षण के लिये भी मानव टिका रह सकता है। बिल्कुल नहीं, आज ये जो मानव समाज बसा बसाया आपको दीख रहा है यह सब अहिंसा के कारण ही ! मां पुत्र की अहिंसा करती है और इसी प्रकार सारा समाज एक दूसरे की अहिंसा रखता है तभी समाज बनता है नहीं तो मानव समुदाय हिंसा अपनाले तो क्या बनाया सभी खेल बिगड़ जाय ! यहां इन्सान नहीं बल्कि ईंट पत्थर ? तुम्हें दीखेंगे और रहने वाली ये होंगी पहाड़ी चोटियां ।

कौनसा मार्ग अपनाना चाहते हो हिंसा का या अहिंसा का ? दूसरे शब्दों में निर्माण चाहते हो या विध्वंस ? विकास या विनाश ? यदि सच्चे रूप में कल्याण और उत्थान की आकांक्षा है तो याद रखो ए मानवीय संसार तुम्हें हिंसा को समाप्त कर अहिंसा के शान्तसाम्राज्य का सहारा लेना ही पड़ेगा इसके साथ यह दूसरी बात भी याद रखनी पड़ेगी कि अहिंसा भी वह जो सामाजिक से प्रारम्भ होकर आत्मा तक विशुद्ध रूप से पनपती है, वही कल्याण की सीढ़ी तक पहुंचा सकती है किन्तु वह अहिंसा जो धार्मिक क्रिया काण्डों में जाकर चूर हो जाती हो, कुर्बानी व आग बलि में जो अहिंसा हिंसा का दम भरती हो वैसी अहिंसा कभी भी मानव को विराट् शक्ति और शान्ति की ओर नहीं ले जा सकता।

मैं विश्व की उन तमाम विभूतियों को पवित्र मानता हूँ, और इन संसार के समस्त धर्मों साधकों, महापुरुषों ने इस अहिंसा का ही अवलम्बन लिया है, मैं यह कहता हूँ कि बुद्ध ईसा, जरथुस्त, अरस्तू, और मुहम्मद की भी विश्व को महानतम देन है, वह अपनी अपनी शिक्षाओं में सम्माननीय और पूज्यास्पद हैं। जैसे कि—

"मध्यममार्ग में बुद्ध, सेवा में ईसा, मानवीय सुधारों में जरथुस्त, सामाजिक व्यवस्था में अरस्तू और विश्वास जगाने में मुहम्मद अपनी अपनी सानी नहीं रखते किन्तु जहां अहिंसा की व्याख्या का प्रश्न उठेगा वहां तो हम उस परम तपस्वी महावीर का ही नाम लेना पड़ेगा। युद्ध को जला देना चाहते हो और अहिंसा की सर्वाङ्गीण व्याख्या समझना चाहते हो तो आओ महावीर की वाणी सुनो और उनके अनुभव से लाभ उठाओ। गान्धीजी की अहिंसा का स्रोत महावीर की जीवनात्मक

अहिंसा की व्याख्या की है किन्तु गाँधीजी की अहिंसा को संसार ने राजनैतिक रूप में ही देखा है उसके दूसरे मुख्य भाग का आध्यात्मिक दर्शन नहीं किया है। हालाँकि सुमाफ्रिका कर आज का जगत् विषम परिस्थितियों की टक्कर खाकर उधर ही जा रहा है। समाज में अहिंसा, सम्पत्ति में अपरिग्रह और मतमतान्तर में समन्वय करने को आज का बड़े से बड़ा वैज्ञानिक अपनी महान् सफलता समझता है।"

हम तो हर्ष इस बात का है कि पावापुरी में निर्वाण पाने वाले इस महापुरुष की निरकट साध्य साधनाएँ किसी न किसी रूप में पनप अवश्य रही हैं किन्तु कितना अच्छा होता जमाना पहले ही मान जाता या आज भी उसे शब्द रूप में समझने का प्रयास करता। परिस्थिति चक्कर देकर तुम्हें अहिंसा अपरिग्रह और अनेकान्त पर लाकर खड़ा करदे इसमें तुम्हारी कुछ तारीफ नहीं आखिर करना वही कुछ पड़ेगा और तुम वही कुछ करोगे लेकिन घिसट घिसट कर। इसमें कुछ आनन्द नहीं। याद रखो आज से २५०० वर्ष पहले जिस दीर्घ तपस्वी ने जातिवाद के विरोध में आवाज उठाई थी आज घिसघिसाकर विश्व भी यही कुछ कर रहा है और शीघ्र से शीघ्रतम इस अभिशाप से मुक्त होना चाहता है। "कम्मुणा कम्मुणा होइ" (ब्राह्मण कार्य पर निर्भर है जातित्व पर नहीं।) की ध्वनि के अनुसार आज विश्व इस जातिगत समस्या का समाधान कर्म के आधार पर ही कर रहा है। ऊँच, नीच, स्पृश्य और अस्पृश्य, ब्राह्मण और शूद्र के नाम पर इन्सान को बाटने वाला भारत आज स्वयं अफ्रिका में जातित्ववाद के विरोध में लड़ रहा है।

धर्म, मत और मतान्तर के नाम पर इन्सानी दुनिया में बहुत गहरा अत्याचार हुआ है। त्याग, पाखण्ड, वैर, विरोध ईर्ष्या आदि दुर्गुण मनवाद की ओट में बहुत पनप हैं। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट, सिया और सुन्नी, श्वेताम्बर और दिगम्बर, शैव और वैष्णव, हीनयान और महायान आदि एक ही जड़ के दो रूपों में बहुत खून-खराबा हुआ है।

यदि इस स्थान पर अनेकान्त और समन्वय की अनेकान्ती दृष्टि का उत्तम दृष्टिकोण अपनाया जाता तो आज यह रक्त-पात नहीं हो सकता था। क्या धर्म, क्या विज्ञान, और क्या सिद्धान्त सब समन्वय के बाद अपनी अभिव्यक्ति कर सके हैं। किन

एक युग में इतना रागछन्न बढ़ा था कि मानव मानव धर्म के नाम पर एक दूसरे का वैरी बना। यद्यपि धर्म का उद्देश्य समस्त प्राणि जगत् में एक अभेद्य रागात्मक सम्बन्ध का विकास करना था। क्योंकि समस्त प्राणिवर्ग का धर्म स्वभाव लगभग एक जैसा है। सब मूल रूप में एक जैसी इच्छा लेकर गति प्रगति और क्रियमाण प्रक्रिया में लगे हुये हैं। मानव पार्थिव पिण्ड पर आधारित ना है, यही कारण है कि मनुष्य चेतनात्मक विज्ञान का अपना भौतिक पदार्थ जगत पर अधिक विश्वास करता है। यह स्वार्थ की भूख धर्म के अनुकूल जगत् पर आज तक अधिकार जमाये रही है। कदाचित् यहीं से साम्प्रदायिकता ने जन्म लिया हो। तदनन्तर अज्ञान, परम्परा, प्रथा, रीति, रिवाज और रूढ़ क्रियाएँ कवच बनकर इस पिशाचिनी साम्प्रदायिकता को प्रश्रय देती रही है। जिसके कारण मानव इस अन्धी विचार परम्परा के साथ आज तक किसी न किसी रूप में चिपका हुआ रहा है। भगवान महावीर ने इसी को एकान्त वाद, एकाङ्गी दृष्टि और अपूर्ण खोज के नाम से पुकारा था। यदि मैं कटु सत्य कह दूं तो मानना *ही पड़ेगा कि ये पवित्रतम विभूतियां* भगवान महावीर और महान बुद्ध इस सङ्कीर्ण मनोवृत्ति को भस्मीभूत करने के लिये ही उठे थे किन्तु हुआ इसके विपरीत कि इन्हीं के नाम से बड़े बड़े सम्प्रदाय चल पड़े। इसमें भगवान तो कारण नहीं कहे जा सकते बल्कि वे लोग जो इनके नाम से कुछ अलग मोर्चाबन्दी करने के इच्छुक थे। कुछ दूसरी बात यह भी थी कि उस मध्यगत युग में कोई विचार धारा बिना मत परम्परा का आश्रय लिये पनप ही नहीं सकती थी। किन्तु आज के युग में फिर वही सम्वाद और समन्वय की पवित्र भावना ने अंगड़ाई ली है और यहां अनेकान्त विश्व विजयी बनने जा रहा है। महावीर का कोई सम्प्रदाय नहीं था और न जाति रखने का कोई ढंग और न धर्म परिवर्तन का कोई रास्ता तथा न सामाजिक व्यवस्था। हाँ, मानव समुदाय जिसे हम मानव समाज कह सकते हैं उसकी अधिक से अधिक सुख समृद्धि के लिये अहिंसात्मक ढंग अवश्य बताये। बढ़ते हुये मिथ्यात्व को रोकने के लिये सत्य, मानव के निर्माण के लिये ब्रह्मचर्य, सामाजिक व्यवस्था के लिये अविकार और मर्यादा तथा अपरिग्रह का आदेश उन्होंने दिया। ये समस्त नियम उन्होंने दबाव और विरोध पर नहीं अपितु मानवीय उत्तेजना रहित अविकारी स्वभाव

के अनुसार रखें। इसीलिये इनमें मर्यादा का भी विधान किया।

श्रीमती मार्गरेट सेंगर विश्व जनीन परिवार नियोजन के लिये गर्भ विरोधक केन्द्र स्थापित करवा रही हैं। कितना अच्छा हो कि वासना के चाबुक से निकल कर महत्तम साहस और उत्साह का तूफान चलाने वाले वीर्य संवर्धना रूप ब्रह्मचर्य का उपदेश दिया जाय और मानव को पवित्र बनाया जावे। आखिर आना इसी मार्ग पर पड़ेगा लेकिन वासना का दुर्बल पाकर। कितना अच्छा हो कि नैतिक ब्रह्मचर्य का पालन किया जाय और साथ में कीड़ों मकोड़ों की तरह बढ़ती हुई जनसंख्या का प्रश्न भी सुलझ जाय। महात्मा गांधी, श्रीसम्पूर्णानन्द, श्री राधाकृष्णन् आदि नेता, पण्डित, दार्शनिक भी इसी तथ्य और निष्कर्ष को व्यवहारात्मक बनाने का उपदेश दे रहे हैं। भौतिक जगत् का व्याख्या कार मार्क्स आन्तरिक मानवीय चेतना को इस पार्थिव जगत् पर एकान्तत आधारित मानता है। लेनिन, और ट्राटस्की इसकी हाँ में हाँ, मिलाते हैं। और दूसरे पूंजी वादी देश पूंजी से इन्सान की कीमत आँकते हैं जिससे उनकी और भी पुष्टि हो जाती है। किन्तु महावीर का अन्तर्दर्शन इस बात का विरोध करता है। उनका ऐसा कहना है कि संसार दो विरोधी तत्वों का सम्मि लित रूप है। इसी प्रकार आन्तरिक चेतना और बहिर्जगत दोनों विरोधी होने पर भी एक दूसरे से सम्बद्ध अवश्य हैं, विरोधी होने के कारण चेतना का धन के प्रति आकर्षण ही दीखता है। मूल रूप में नहीं है। दोनों स्वतन्त्र और सहयोगी हैं। ऐसा न होता तो एक का आपस में आकर्षण ही नहीं हो सकता था। यदि मार्क्स आन्तरिक चेतना को भौतिक जगत् का उच्छिष्ट और आश्रित रूप न बनाता तो वह भी अपरिग्रह के नव्य युगीन व्याख्या कार मान लिये जाते।

जिसका मूल स्रोत अपरिग्रह दर्शन ही रहता। वह तो मानव समाज की विभिन्न अवस्था देख कर बौखला उठा है और चेतना के साक्षात्कार में गहरी भ्रान्ति खा गया है। मैं मानता हूँ कि बाह्य विषमताओं का क्रम इस सम्पत्ति के विषमीकरण पर ही निर्भर है किन्तु मानसिक और आत्मिक स्तरों में चेतना भी अपना अलग अस्तित्व रखती है उससे तो इनकार नहीं किया जा सकता। यह याद रखने वाली बात है आन्तरिक चेतना से शून्य यह भौतिक जगत कोरा अभावात्मक और उनका व्यवहार

गया हो दीखेगा। जिसका कि मालूम तक नहीं पड़ा है।

भगवान महावीर धन को मनुष्य की व्यवहारतम धरोहर मानते हैं। और अन्न और जल का आवश्यक सहयोगी तत्व। जिसके बिना इस विभिन्न मति मानव का व्यवहार और शारीरिक सम्बन्ध नहीं हो सकता। बस इससे अधिक इसकी कुछ महत्ता नहीं मानते। इसीलिए उन्होंने स्वर्ण के रत्न की तरह सुवर्ण का दोष निकाला तथा उससे मूर्छा त्याग और उसकी मर्यादा का उपदेश दिया। जिससे मानव की आसक्ति भी कम हो सके गृहस्थ और सामाजिक व्यवहार भी चल सकें। संग्रह वृत्ति के भगवान विरोधी थे और विकेन्द्रित व्यवस्था प्रणाली में मर्यादित जीवन का यह उपदेश देते थे। गांधीवाद की रूप रेखा में लगभग महावीर के मुख्य तत्वों को मोटे रूप से ग्रहण तो कर लिया है किन्तु उनकी आध्यात्मिकता छूटी रही है।

अन्त में विनोबा के सर्वोदयवाद में, खलील जिब्रान के मानववाद में, पूर्व और पश्चिम के शान्तिवादियों में मैं तो वहां भगवान महावीर के बताए हुए अहिंसात्मक सूत्रों का ओवर दर्शन पा रहा हूं। और कुछ आगे बढ़कर कह दूं तो मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आज का विश्व वहां ही पहुंचने को उत्सुक है जहां कि भगवान उसे पहुँचाना चाहते थे। यह एकनिष्ठ सांप्रदायिकता और अहिंसा, सत्य, समन्वय और शान्ति नाम पर चला विश्व अनेक समस्याएँ हिंसा से ऊबकर और अहिंसा की ओर झुकती हुई मानव मनोवृत्तियां उसी महावीर के निर्दिष्ट पथ का अनुसरण कर रही हैं। आज का विश्व अपना प्रजातन्त्र उत्तम भावना, और उन्नत आचरण तथा उग्र साधना पर प्रतिष्ठित करना चाहता है। मुझे तो ऐसा लग रहा है कि यह वो युग था कि जब महावीर इस जगत् के हित करने के लिए अपनी विराट् साधना में तत्पर थे आज फिर ऐसी शुभ वेला आई है कि विश्व का प्रत्येक प्राणी जन-जन उस महावीर की दिव्य ध्वनि में अपना आपको महावीर बनाना चाहता है। लगभग मैं तो विश्व के कण कण से यही भावना सुन पा रहा हूं कि प्रभो!

"असतो मा महावीरत्वं गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मामृत गमय"

भाई ! निज हित-
कारज करना !

निज हित कारज करना भाई,
निज हित कारज करना ।
जनम मरन दुख पावत जातैं,
सो विधि-बंध कतरना ॥
ज्ञान दरस अरु राग फरस रस,
निज पर चिह्न भ्रमरना ।
संधि भेद बुधि छैनी तैं कर,
निज गहि पर परिहरना ॥
परिग्रही अपराधी शंकै,
त्यागी अभय विचरना ।
त्यौं पर चाह बंध दुखदायक,
त्यागत सब सुख भरना ॥
जो भव भ्रमन न चाहै तो अब,
सुगुरु सीख उर धरना ।
'दौलत' स्वरस सुधारस चाखो,
ज्यों विनसै भवभरना ॥
भाई ! निज हित कारज करना ॥

—दौलतराम

निज समकित-
सारस रीता

यही इक धर्म मूल है [illegible]
निज समकित सारस [illegible]
समकित सहित नरक [illegible]
खासा बुधजन [illegible]
तहँ तैं निकसि होय [illegible]
सुरगन [illegible]
स्वर्गवास हू [illegible]
बिन [illegible]
[illegible]

मनुष्य जी रहा है—मनुष्यता मर रही है

नेमीचन्द जैन
लेखक, पत्रकार, कहानीकार

उपनिषद् के युग से आज तक मनुष्यता को अमानुषीय तत्वों से जो संघर्ष करना पड़ा है उसका इतिहास जहां एक ओर कसक से पूर्ण है वहीं दूसरी ओर वह उन 'लाल निशानों' की ओर संकेत करने वाला भी है जिन्हें हम अक्सर तब भूल जाया करते हैं जब हम मनुष्य के लिबास में मनुष्य न रहकर मनुष्यत्व का दम्भ लिये उसकी जीवित लाश होते हैं। तब से हम बहुत उठे हैं, तब से हम बहुत गिरे हैं। हमारे उठने का मानदंड भौतिकता और गिरने का पैमाना आध्यात्मिकता रहा है। अक्सर हमने अपने आभ्यन्तर को पिछले दिनों 'भौतिक इरोजिन' (Materialistic Erosion) के भयङ्कर भंवरों में डाला है और उसकी सतहें काटकर बड़े प्रसन्न हुए हैं। हम उठे हैं बड़े बड़े यन्त्रों के साथ इंसान की उस ताकत को छोड़ देकर जो मूलतः 'आध्यात्मिक मूल्य' पर आधारित है। हमने मनुष्य की चेतना को आवरण में रखकर उसकी शारीरी शक्तियों और सम्पत्तियों को ही प्राथमिकता दी है। किन्तु त्रियुगी सत्य इससे विपरीत है। वह यह कि बिना स्वस्थ चेतना के स्वस्थ रक्त संस्थान की स्थिति असम्भव है।

मनुष्य की मनुष्यता में उसकी चेतना प्रथम सत्य है, मनुष्य दूसरा। यद्यपि यह सही है कि मनुष्य और मनुष्यता दोनों अस्तित्व सापेक्ष हैं किन्तु इस युग के कुतूहलपूर्ण भौतिक चमत्कारों ने इस सत्य को कि मनुष्य मनुष्यता का 'कोट' उतार कर भी जीवित रह सकता है, अधिकाधिक प्रचारित किया है। आज मनुष्य जी रहा है। मनुष्यता निकल रही है स्यात् उसकी सांस टूटने को है।

'अर्हत्', 'ब्रह्म' 'जिन' 'स्वयम्भू' आदि, संज्ञाओं से जिस शक्ति का सम्बोधन [illegible] युगों से अब तक होता रहा वह हमारी आभ्यन्तरिक क्षमता ही है जो आज की समस्याओं की दाहक झपटें पाकर बुरी तरह झुलस गई है। जो हो इतना तो मानना ही चाहिए कि मनुष्य का मन आज पहले से बहुत छोटा और खोटा हो गया है। छोटा हो सो तो कोई बात नहीं, पर खोट उसमें उत्पन्न हो यह चिन्ता का विषय है। धर्म वह है जो मन के दायरे को दरिया बनाये। नीति वह है जो मन को

नयन द। कर्म वह है जो इस चीज को पाकर सर्व-भूत-हित में लगे। और यदि आज यह सब नहीं है तो निश्चय ही कोई ऐसी बुनियादी वजह होना चाहिये जिसने इन सब मानव मूल्यों को अपनी वास्तविकता से नीचे गिराया है। वह बुनियादी भूल है-"जीवन का श्रम से तलाक।"

जीवन ने श्रम को छोड़ दिया है इसलिये उसका श्रमणत्व गिर गया है। दूसरे लफ्ज़ों में— हम जीवन में श्रम के सामञ्जस्य को ही मनुष्यता मानते हैं। वह मनुष्यता ही क्या जो स्थिर (Static) हो और यदि वह क्रियाहीन नहीं है तो निश्चय ही वह गतिशाली (Dynamic) है। मनुष्यता बढ़, घट नहीं, इसी से पहरेदारी युगों से-धर्म, दर्शन और जीवन के अन्य कल्याणकारी तथा कला पोषक मूल्य करते आ रहे हैं। सम्यक् मनुष्य श्रमणत्व से बच नहीं सकता। और यदि वह श्रमणत्व से बचता है तो निश्चय मानिये उसमें सम्यक्त्व का अंश दिनों दिन उफ रहा है। उसके इस अंश की बुझाहट में ही उसकी जीते जी मौत है दुःख है सरटापन स्थिति है।

आज के युग की सबसे बड़ी अपेक्षा 'श्रमणत्व, सम्यक्त्व और मनुष्यत्व' का त्रिवेणी है। यही मनुष्यता का महान् तीर्थ है। यहीं अवगाहन कर युगों की चेतना तर तब निष्पन्न हुई है। आज 'मशीन' की गर्मी ने इस त्रिवेणी का जल सोख लिया है इसलिये मानव मछलियां मौनर से तलफ रही हैं। जो हो यह सुनिश्चित है कि जब तक रीत गये पानी से मनुष्य का मंगल घट पूरा नहीं आता। मानव समाज उत्तरोत्तर पतन के महागर्त में विवश होना हुआ उतरता जायगा, उतर रहा है।

इन दिनों मनुष्य हलका नहीं बोझीला बना है। दुनिया जानती है हलकी वस्तुओं का मोल और मूल्य वजनी वस्तुओं की अपेक्षा अधिक ही होता है—बशर्ते वह स्वभाव का हलकापन नहीं पर्याय का हलकापन हो। स्वभाव की यह गुरु-नसीका परिग्रह से नहीं परिग्रह के अभाव से ही सम्भव है।

आज आचरण ने भी कर्म का साथ छोड़ दिया है। यह भी एक कारण है जिसने मनुष्य के सम्यक्त्व को छिन्न भिन्न किया है। सत्य के सचरण की इस दिशा को जब तक हम नहीं समझ पाते तबतक मनुष्य जीता रहेगा तो क्या, उसका आभ्यन्तर का प्रमुख अंश—"मनुष्यता"— उत्तरोत्तर मरता रहेगा।

नागरिकोचित संस्कृति

महापंडित श्री आशाधरजी ने श्रमणोपासक नागरिकोचित संस्कृति कैसी होनी चाहिये, इस बात का एक श्लोक में (सा ध २१) वर्णन किया है। जो कि इस प्रकार है—

× १ न्याय से धन कमाने वाला हो अर्थात् श्रमजीवी हो, जुआरी न हो।
२ सद्गुरु सेवक हो। अर्थात् गुरुजन (गुणीजन-सज्जन) सेवक हो, दुर्जन सेवक न हो।
३ हित मित प्रिय भाषी हो।
४ त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) की परस्पर विरोध रहित सिद्धि प्राप्ति करने वाला हो।
* ५ नागरिक हो। अर्थात् सामाजिक नियम पालक तथा दाम्पत्य जीवन वाला हो।
६ लज्जालु हो। बेशरमें न हो।
७ योग्य (मद्य मांस रहित) आहार तथा योग्य विहार करने वाला हो।
८ सत्-सज्जन-संगति करने वाला हो।
९ विचारक हो।
१० कृतज्ञ हो।
११ इन्द्रियों को वश में रखने वाला हो।
१२ धर्म विधि को सुनने वाला हो।
१३ दयालु-दानी- हो। अर्थात् अज्ञानी, भयभीत नंगे भूखे, तथा रोगी-अपंग, इन चारों प्रकार के दुखी जीवों के लिये यथाशक्ति तन मन धन त्याग करने वाला हो।
×१४ पाप (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह) से डरने वाला हो।

× जूआ, मद्य, मांस तथा पंच पाप, इन आठ का कुछ न कुछ रूप में त्याग करना, नागरिक के ये आठ मूल गुण कहलाते हैं।

* सागार धर्मामृत $\frac{२}{६० ६२}$ $\frac{३}{३० ३१}$ (जिनसेन आचार्य आदि पुराण)

श्री संयोगितागंज, महावीर जयंति महोत्सव कमेटी संयोगितागंज, इन्दौर द्वारा प्रकाशित

मसीहा ने कहा—

"तुम सुन चुके हो, कि कहा गया था, कि आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत। परन्तु मैं तुम से यह कहता हूँ कि बुरे का सामना न करना परन्तु जो कोई तेरे दाहिने गाल पर थप्पड़ मारे उसकी ओर दूसरा भी फेर दे। यदि कोई तुझ पर नालिश करके तेरा कुरता लेना चाहे तो उसे दोहर भी ले लेने दे। और जो कोई तुझे कोस भर बेगार में ले जाये तो उसके साथ दो कोस चला जा। जो कोई तुझसे माँगे उसे दे, और जो तुझसे उधार लेना चाहे, उससे मुँह न मोड़।

"तुम सुन चुके हो, कि कहा गया था कि अपने पड़ोसी से प्रेम रखना, और अपने वैरी से वैर। परन्तु मैं तुमसे यह कहता हूँ, कि अपने वैरियों से प्रेम रखो और अपने सताने वालों के लिये प्रार्थना करो। जिससे तुम अपने स्वर्गीय पिता की सन्तान ठहरोगे क्योंकि वह भलों और बुरों दोनों पर अपना सूर्योदय करता है, और धर्मियों और अधर्मियों दोनों पर मेंह बरसाता है। क्योंकि यदि तुम अपने प्रेम रखने वालों ही से प्रेम रखो, तो तुम्हारे लिये क्या फल होगा? क्या महसूल लेने वाले भी ऐसा ही नहीं करते?

"तुम पृथ्वी के नमक हो, परन्तु यदि नमक का स्वाद बिगड़ जाये, तो वह किस वस्तु से नमकीन किया जायेगा? फिर वह किसी काम का नहीं, केवल इसके कि बाहर फेंका जाय और मनुष्य के पैरों तले रौंदा जाये। तुम जगत् की ज्योति हो, जो नगर पहाड़ पर बसा हुआ है वह छिप नहीं सकता। और लोग दिया जलाकर पैमाने (एक बर्तन जिसमें डेढ़ मन अनाज नापा जाता है) के नीचे नहीं परन्तु दीवट पर रखते हैं, तब उससे घर के सब लोगों को प्रकाश पहुँचता है। इस प्रकार तुम्हारा उजियाला मनुष्यों के सामने चमके कि वे तुम्हारे भले कामों को देखकर तुम्हारे पिता की, जो स्वर्ग में है, बड़ाई करें।

"माँगो, तो तुम्हें दिया जाएगा, ढूँढो, तो तुम पाओगे, खटखटाओ, तो तुम्हारे लिये खोला जाएगा। क्योंकि जो कोई माँगता है उसे मिलता है, और जो ढूँढ़ता है, वह पाता है, और जो खटखटाता है, उसके लिये खोला जाता है।"

नागरिकोचित संस्कृति

महापंडित श्री आशाधरजी ने श्रमणोपासक नागरिकोचित संस्कृति कैसी होनी चाहिये, इस बात का एक श्लोक में (सा ध १५) वर्णन किया है। जो कि इस प्रकार है—

× १ न्याय से धन कमाने वाला हो अर्थात् श्रमजीवी हो, जुआरी न हो।
२ सद्गुरु सेवक हो। अर्थात् गुरजन (गुणीजन–सज्जन) सेवक हो, दुर्जन सेवक न हो।
३ हित मित-प्रिय भाषी हो।
४ त्रिवर्ग (धर्म अर्थ काम) की परस्पर विरोध रहित सिद्धि प्राप्ति करने वाला हो।
• ५ नागरिक हो। अर्थात् सामाजिक नियम पालक तथा दाम्पत्य जीवन वाला हो।
६ लज्जालु हो। बेशरमे न हो।
७ योग्य (मद्य मांस रहित) आहार तथा योग्य विहार करने वाला हो।
८ सत्–सज्जन–संगति करने वाला हो।
९ विचारक हो।
[illegible] कृतज्ञ हो।
१ इन्द्रियों को वश में रखने वाला हो।
२ धर्म विधि को सुनने वाला हो।
३ दयालु-दानी– हो। अर्थात् अज्ञानी, भयभीत, नंगे भूखे, तथा रोगी–अपंग, इन चारों प्रकार के दुखी जीवों के लिये यथाशक्ति तन मन धन त्याग करने वाला हो।
१४ पाप (हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह) से डरने वाला हो।

---

१ जूआ, मद्य, मांस तथा पंच पाप, इन आठ का कुछ न कुछ रूप में त्याग करना, नागरिक के ये आठ मूल गुण कहलाते हैं।

• सागार धर्मामृत २/६० ६२ ३/३० ३१ (जिनसेन आचार्य आदि पुराण)

संयोगितागंज, महावीर जयंति महोत्सव कमेटी संयोगितागंज, इन्दौर द्वारा प्रचारित

लिये वे असत्य भी हैं। विज्ञान की कसौटी पर जिस दिन भी वे सत्य सिद्ध हो जायेंगे, मेरा 'जैन' उस समय उन्हें सत्य मान लेगा।

महात्मा गांधी की मृत्यु को मैंने 'निर्वाण' का स्वरूप मान लिया है। 'मोक्ष' और 'निर्वाण' की परिभाषा आज के रूप में मैं महात्मा गांधी की अग्नि विसर्जन क्रिया को मान गया हूं। जैन शास्त्रों में शायद यही तो कहा गया है कि 'मोक्ष' यानी जन्म मरण, पुनर्जन्म से, संसार से मुक्ति और उसका रूप है—शरीर का कपूर की तरह उड़ जाना। यह कपूर की तरह उड़ जाने का मतलब है जिसकी सुगन्ध दसों दिशाओं में प्रसारित हो उठे—महक उठे। क्या इस युग में महात्मा गांधी की अग्नि विसर्जन क्रिया संसार के कोने-कोने में जल देवताओं के चरणों में उत्सर्ग सहित करने की प्रक्रिया ही नहीं था? यदि थी, तो 'निर्वाण' मेरे प्रस्तुत हो गया है। मैं ... कि महावीर की निर्वाण ऐसी ही प्रक्रिया थी। ...—'सत्य' सापेक्ष नहीं होता। 'सत्य' प्रत्यक्ष होता है। आधुनिक व्यापार, लाभ की दृष्टि से, व्यवहार में लोग 'सत्य' मान लेते हैं। यह काला बाजार भी सत्य है पर यहां तो 'असत्य' है। इस सत्य धर्म के मानने वालों को मैं 'जैन' कैसे कह सकता हूं, मैं कहता हूं—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य ये सब सत्य हैं। 'सदाचार धर्म' सत्य है लेकिन 'क्रिया कर्मकाण्ड' धर्म के 'सत्य' नहीं। ये सामयिक आचार भेद हैं। परिवर्तनशील हैं। जैन दृष्टि काल के लिये इनमें परिवर्तन उचित है अन्यथा 'सत्य' का कल्याण नहीं हो सकता। दशधर्मों की परिभाषाएँ सही रूप में समझना चाहिये। शास्त्रों के अवलोकन से सदाचार की 'प्रतिमाएँ'—दर्जा ब दर्जा धारण करने का क्रम निर्धारित कर दिया गया है। इसलिये आक्षेपक पहले इस सत्य को विचार लें। लेख विस्तार की दृष्टि से अधिक नहीं लिखूंगा, लेकिन मैं मानता हूं कि "मैं 'जैन' हूं"

'मैं जैन हूँ'

श्री भानुकुमार जैन
अनुवादक, विचारक, पत्रकार

लोग अक्सर मुझसे पूछ बैठते हैं—"तुम अपने नाम के साथ 'जैन' लगाते हो, रात्रिभोजन का तुम्हें त्याग नहीं है, मंदिर जाते नहीं हो, कर्मकाण्ड का पालन नहीं करते कैसे 'जैन' हो ?"—प्रश्न सही है। मेरा निवेदन है—जैनधर्म के प्रवर्तक आदिनाथ यानि ऋषभदेव थे। उन्होंने स्याद्वाद, अपरिग्रह, अनेकान्त और वीतरागता के आधार पर जैनधर्म प्रतिष्ठापित किया। इन विचारों की स्थापना में पृष्ठभूमि उस समय की सामाजिक समस्याएँ रही होंगी। महावीर के समय भी 'हिंसा, यज्ञ और बलि' के तांडव की बात इतिहास प्रसिद्ध है। यानि वे मतो दर्शन का परिणाम ही सामाजिक धारणाओं की प्रतिस्थापना है। शोध, विचार उसका ज़रिया है। ऋषभदेव या महावीर ने स्वयं जिज्ञासु होकर मार्ग के लिए चिंतन किया। उन्होंने पूर्व को प्रतिष्ठापित नहीं किया बुद्धि और अनुभव का सहारा लिया। समाज मान्य शायद अनन्त वर्षों से प्रतिष्ठित 'भगवान' की उपेक्षा इसीलिए महावीर ने कर दी। ऐतिहासिक ज्ञान मुझे नहीं है, संभव है, पार्श्वनाथ ने भी यही किया हो, लेकिन जिज्ञासा से यह बात सिद्ध होती है कि वे सब महात्मा सत्य की शोध करने वाले थे, और जो बातें उन्हें उपयुक्त, उस समय की विचार-बुद्धि से लगीं, वह धर्म के प्रवर्तन के रूप में स्वीकार कर ली। मैं भी इसी मान्यता को लेकर "जैन" शब्द की अभिव्यंजना को धारण किए हुए हूँ। आचार और क्रिया-कर्मकांड की दृष्टि से मुझमें और आम जैनियों में बहुत फर्क है। मैं बुद्धि और तर्क की कसौटी पर आचरण कर, अपने को, जैनधर्म के संस्थापक ऋषभदेव और प्रवर्तक पार्श्वनाथ, महावीर की परम्परा में ही एक अनुयायी मानता हूँ। 'सत्य' को सापेक्ष मानना मेरे लिए कभी समय नहीं है, 'प्रत्यक्ष' सत्य है। आज के इस वैज्ञानिक युग में मैं मानता हूँ—स्वर्ग, नरक, व्यन्तर आदि के देव, पुनर्जन्म, भाग्य आदि विषय तर्कसंगत नहीं हैं, और इसी

लिये व असत्य भी हैं। विज्ञान की कसौटी पर जिस दिन भी वे सत्य सिद्ध हो जायेंगे, मेरा 'जैन' उस समय उन्हें सत्य मान लेगा।

महात्मा गांधी की मृत्यु को मैंने 'निर्वाण' का स्वरूप मान लिया है। 'मोक्ष' और 'निर्वाण' की परिभाषा आज के रूप में मैं महात्मा-गांधी की अस्थि विसर्जन क्रिया को मान गया हूँ। जैन शास्त्रों में शायद यही तो कहा गया है कि 'मोक्ष' याने इस भव तथा पुनर्जन्म से, शरीर से मुक्ति, और उसका रूप है—शरीर का कर्पूरवत् उड़ जाना। यह कर्पूरवत् उड़ जाने का मतलब है जिसका यश सौरभ दशों दिशाओं में प्रसारित हो उठे—महक उठे। क्या इस युग में महात्मा गांधी की अस्थि विसर्जन क्रिया संसार के कोने-कोने में जल देवताओं के चरणों में उत्सव सहित प्रवाहित करने की प्रक्रिया नहीं थी? और यदि थी, तो 'निर्वाण' मेरे सामने प्रस्तुत हो गया है। मैं मान गया कि महावीर का निर्वाण उस समय की ऐसी ही प्रक्रिया थी। मैं लिख रहा था—'सत्य' सापेक्ष नहीं होता। 'सत्य' प्रत्यक्ष होता है। आधुनिक व्यापार, लाभ की दृष्टि से, व्यवहार में लोग 'सत्य' मान लेते हैं। यानि काला बाजार भी सत्य है पर यही तो 'असत्य' है। ऐसे सत्य धर्म के मानने वालों को मैं 'जैन' कैसे कह सकता हूँ, मैं कहता हूँ—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य ये सब सत्य हैं। 'सदाचार धर्म' सत्य है लेकिन 'क्रिया कर्मकाण्ड' धर्म के 'सत्य' नहीं। ये सामयिक आचार भेद हैं। परिवर्तनशील हैं। जैन दृष्टि लाने के लिये इनमें परिवर्तन उचित है अन्यथा 'सत्य' का कल्याण नहीं हो सकता। दशधर्मों की परिभाषाएँ सत्य के रूप में समझना चाहिये। शास्त्रों के अवलोकन से सदाचार की 'प्रतिमाएँ'—दर्जा व दर्जा धारण करने का क्रम निर्धारित कर दिया गया है। इसलिये आक्षेपक पहले इस सत्य को विचार लें। लेख विस्तार की दृष्टि से अधिक नहीं लिखूँगा, लेकिन मैं मानता हूँ कि "मैं 'जैन' हूँ"



विनोबा ने कहा—

'मैं तो सिर्फ यही समझता हूँ कि जो कुछ अपने पास है, सब दूसरों की सेवा के लिये है। आखिर यह जो चोला हमें मिला है, वह किस काम के लिये? इस लिये कि 'खुले नयन पहचानो, सुन्दर रूप निहारो।' ये कान जो हमें मिले हैं, किस लिये? इसलिये न, कि ज्ञान की चर्चा सुनें? जिस दिन ज्ञान की चर्चा सुनने को नहीं मिली, उस दिन ये कान, कान नहीं रह जाते, साप के बिल के समान बन जाते हैं। ये हाथ किसलिये हैं? क्या लोगों को सताने के लिये? नहीं, हाथ इसी लिये मिले हैं कि बीमारों की सेवा करें, डरे हुओं को आश्वासन दें, सज्जनों को प्रणाम करें। इस तरह हमारी सारी शक्तियाँ हम गरीबों की सेवा में लगा देनी हैं, ताकि जब समय आवे तब, 'ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया।'

कहानी

नागवल्लरी

स्वरूपकुमार गांगेय
कहानीकार, गीतिकार, लेखक

शताब्दियों पुरानी बात है—
राजकुमार कमलनयन की सोलहवीं वर्षगांठ का समारोह मनाया जा रहा है। राजमहल के उत्सव भवन में उत्साह और श्रद्धा की धरती पर गम्भीरता व्याप्त है। समस्त रत्न जटित सिंहमुखा सिंहासन पर सम्राट कीर्तिविजय, समीप ही अश्वमुखा दमकते आसन पर राजकुमार कमलनयन, और चरण दो चरण पीछे हटकर मेषमुखी सादे आसन पर महामात्य यशवदेव विराजमान हैं। अलंकारों से विभूषित एवं सुन्दर राजरानियां भी महारानी के साथ रेशमी धागों की जाल पट्टिका की ओट में उपस्थित हैं। सामने कुछ नीचे दर्शकगण चुप्पी साधे उत्सुकता भरी दृष्टियों से राजघराने की शोभा निहार रहे हैं। भरी सभा में प्रथम दो-तीन पंक्तियों में राज्य के बड़े बड़े राव उमराव, सरदार, महाकाय सेठ साहूकार जमे हुये हैं, और उनके पीछे क्रमशः मुख्य मुख्य अधिकारी और कर्मचारी बैठे हैं। अति-

सभा के कक्ष में नामी घरानों की कुलकामिनियां राजकुमार कमल नयन के सौंदर्य पर 'वारी वारी जाऊं' की ऊर्मियां हृदय सागर में उछालती हुई अधखिले कुसुम से उल्लसित सुकुमार पर दृष्टियां टिका कर मन ही मन प्रशस्ति में उलझ सुलझ रही हैं। और उधर दूसरे कोने में एक ओर मिट्टी की मूरत गढ़ी है। मूरत है एक अधनंगी स्त्री की। इसे खून की मोटी डाल पर लटका हुआ दिखाया गया है और आस-पास पन्द्रह बीस वधिक दानव अट्टहास के साथ उछलते-कूदते उसके प्राण ले रहे हैं। आकृतियों का मूर्तिकार है नागदत्त, जो रंग बिरंगी पगड़ी पहिने उल्लास की आभा चेहरे पर उभारकर मूरत के पास ही पटकाली चौकी पर बैठा

आनन्द समारोह का लक्ष्य बिन्दु है। सरकारी प्रचार ने इस मूरत को 'विकृतियों' का प्रतीक माना है और, इसके वध का विधान अभी अभी राजकुमार कमलनयन के हाथों सम्पन्न होगा। यों तो वर्षों से इस राज्य में प्रतिवर्ष राजकुमारों की वर्षगांठ पर 'विकृति वध' के उत्सव मनाये जाते आ रहे हैं, किन्तु समाधानकारक अन्तकथा से लोग अनभिज्ञ ही हैं। कहते हैं उनमें से सम्राट कीर्तिविजय के पिता जय विजय ने इस प्रथा को शुरू किया था। राज्याश्रित पंडित और विद्वान कहते हैं कि महाराजाधिराज जय विजय प्रजा का चरित्र ऊंचा उठाना चाहते थे, इसलिए प्रतिवर्ष वे राजकुमार की वर्षगांठ के दिन राजकुमार द्वारा यह 'विकृतिवध' करवाया करते थे। और उसी परम्परा के अनुसार इस पर लटका दिया गया 'माटी की मूरत', मूर्तिकार नागदत्त द्वारा इस वर्ष भी बनवाई गई है। नागदत्त को भी राज्याश्रय प्राप्त है। महाराजाधिराज जयविजय के समय में इसका बाप नन्द ये आकृतियां बनाया करता था। पंडितों ने जो अब प्रचलित कर रक्खा है उसे कुछ बड़े बूढ़े नहीं मानते। वे इस सम्बन्ध में कोई 'गूढ़' कहानी जानते से लगते हैं और जब अन्तरंग जानने के लिये लोग हठ कर बैठते हैं, तो वह कहते हैं कि इस कथा को प्रकट करने वाले के वंश का नाश हो जाता है। वे कहते हैं कि इस कथा को कहने से राज्य का महामन्त्री खो बैठा है। ईश्वर ने उसे स्वयं इस अधिकार दिये हैं। जिज्ञासु असन्तुष्ट होकर चुप हो जाते हैं, और जो कुछ पंडितों ने प्रचारित कर रक्खा है, वही चला आ रहा है। श्री राजकुमार कमलनयन का यह ग्यारहवां जन्म दिन है। तीन पन्द्रह वर्षों का नन्हा इस वर्ष भी, धाई की गोद से उतर उनके हाथों वध किया जाने वाली है। जब वे मैदान में आकर वीरों में 'मूरत' को धराशायी करेंगे, तब सम्राट कीर्तिविजय अपने एक प्रहार से 'मूरत' को चूर चूर कर देंगे। बाद स्वयं राजकुमार, मूर्तिकार को वस्त्राभूषण देकर सम्मानित करेंगे—फिर उत्सव की समाप्ति की घोषणा कर दी जायगी।

समय लगभग आ लगा है। और अब दर्शक गण आतुर भी हो उठे हैं। उत्सव भवन के बाहर भी दूर तक जन सागर लहरा रहा है। यह 'भवन' कुछ ऐसे ढंग से निर्मित किया गया है कि 'बाहर

वह लोग भी भीतर चलने वाले समारोह को देख सकते हैं।

ठीक समय महामात्य खड़े हुए और मलनंद्र को झुककर अभिवादन किया। बाहर जन रव धीमा पड़ गया। सघन भव्य सफेद मूछों से आच्छादित ओठ हिले, और प्रशस्त ललाट की गहरी झुर्रियों को और भी अधिक गहरा बनाते हुए महामात्य बोले, 'आज का दिन बहुत शुभ और मंगलमय है, यह अत्यधिक हर्ष का विषय है। हमारे प्रिय राजकुमार आज सोलहवें वर्ष में प्रवेश पा चुके हैं। यह तो आप सब जानते ही हैं कि 'विहग-वध' का समारोह राज्य में पक्षियों को नष्ट कर देने की प्रेरणाएँ देने के लिये मनाया जाता है। आपको प्रति वर्ष इस 'माटी की मूरत' का परिचय दिया जाता है। इस वर्ष भी मैं यह बताना चाहता हूँ कि यह आकृति पाप और कलुषता की मूरत है और इसे हम नष्ट करना चाहते हैं।' प्रथम सोपान पंक्तियों में बैठे हुए राज उमराव तालियाँ पीटकर सम्राट् और राजकुमार की जय जयकार करने लगे। महामात्य ने गद्गद् होकर अत्यन्त भावुकता से सम्राट् और कुमार को फिर अभिवादन किया। सम्राट् मुस्कराए और महामात्य ने हाथ उठाकर सब को शान्त हो जाने का इशारा किया। सभा भवन में निमन्त्रित दर्शक तो शान्त हो गए, किन्तु बाहर कोलाहल बढ़ गया। सब लोग घुस-पुस कर बातें करने लगे, महामात्य भी बोलते-बोलते रुक गए। इतने में ही एक भृत्य दौड़ा आया और महामात्य के कान में बोला कि एक क्षीण वृद्धा बरबस भीतर आना चाहती है। वह कहती है कि वह सम्राट् से समस्त राज्य की भलाई की बात कहना चाहती है। और ऐसा भी कहती है कि यदि उसे रोका गया तो प्राण तक दे देगी। इतना ही नहीं, यहाँ तक बोल रही है कि सम्राट् और कुमार से बिना मिले यदि वह मर गई तो राज पर आफत टूट पड़ेगी। महामात्य लापरवाही से हल्का मुस्कराकर बोले, 'यह कोई पगली होगी। धक्के देकर बाहर करो और लोगों से शान्त रहने के लिए कहो।' महामात्य से आदेश पाकर भृत्य लौटना ही चाहता था, कि सम्राट् ने उसे बुलाकर कोलाहल के बारे में पूछा तो भृत्य ने सम्राट् को ज्यों का त्यों सुना दिया। सम्राट् ने महामात्य को बुलाकर आज्ञा दी कि उस वृद्धा को आने दिया जाए। महामात्य ने एक क्षण सोचा फिर बोले, 'महाराज वह तो एक पगली...

स्त्री है।' उसी समय, राजकुमार ने हठ पूर्वक कहा 'पगली हो तो क्या, कुछ देर मनोरञ्जन ही होगा।' महामात्य चुप थे। वृद्धा को स्वीकृति मिल गई। सब लोग देखने लगे कि हाथ में फूल माला लेकर बड़ी बड़ी आँखों वाली बुढ़िया मंच की ओर चली आ रही है। सब ओर निस्तब्धता छा गई। पर वृद्धा समीप पहुँची तो मूर्तिकार नागदत्त जैसे कांप उठा। वह अपनी सारी सुध बुध भूल बैठा। उसके ओंठ कुछ बोलने के लिये फरफरा उठे, किन्तु उसे भीतर से किसी ने जैसे रोक लिया। उसका गला रुंध गया। उसकी दृष्टि भय और अचरज से बंध गई। वृद्धा ने सबसे पहिले उस वृद्ध नग्न नारी की 'मूरत' के गले में माला डाली और फिर कांपते हुए हाथों से पान सात तालियां बजाई। सम्राट् और राजकुमार उसे पागल समझकर मुस्कराये, तथा महामात्य सूरत उतारकर आश्चर्य देखने लगे। परदे की ओट में बैठी राजरानियों और 'बाल कनी' में बैठी कुल कामिनियों के चेहरे गौरव से अरुण हो उठे। वे कुतूहल पूर्ण दृष्टि से देखने लगीं। वह 'नारी की मूरत' तो विकृतियों की 'मूरत' था न, किन्तु फिर भी न जाने क्यों वृद्धा का यह कृत्य नारी समाज को खूब भाया। शायद इसीलिये भाया होगा कि वह एक नारी की आकृति था। और चाहे उस मूरत को किसी भी रूप में, वहां रक्खा गया हो, किन्तु पुरुष की निष्ठुरता और दम्भ को चुनौती देकर नारी ने नारी के प्रतीक को सम्मानित किया है, यह बात अन्न, मौन से उठकर अदृश्य उल्लास मनन का सभी स्त्रियों के ऊपर। चेहरा मन में रम गई, तभी तो वे अपने आपको गौरवान्वित अनुभव कर अरुण हो उठीं।...

यह करने के बाद, वृद्धा ने सम्राट से प्रार्थना की कि आज जब कि वह राज में बुराइयों को नष्ट करने का दिन मना रहे हैं तो राज की भलाई के लिये उसे एक सत्य प्रकट करने की आज्ञा दी जाय। महामात्य बीच ही में बोल उठे कि पगली के प्रलाप में समय नष्ट करना व्यर्थ है। सम्राट के कुछ बोलने के पहिले ही राजकुमार ने कहा कि, वृद्धा को कुछ देर बोलने दिया जाय। महामात्य चुप रहे। वृद्धा को आज्ञा मिल गई। पहिले वृद्धा ने कनखियों से नागदत्त की ओर देखा। नागदत्त पत्थर की तरह निर्जीव सा बेबस था, जैसे उसे किसान कील दिया हो। फिर वह बोलने लगी, 'पुत्रो! विकृति की मूरत, आप देख

रह हैं ? । मैं इसकी सच्ची कहानी आज बताना चाहती हूँ' महामात्य आसन स चग्र होकर उठे और सम्राट् स प्रार्थना की कि वृद्धा को अनर्गल प्रलाप करने से रोका जाय। प्रथम पंक्ति में बैठे हुये कुछ बूढ़े रावों और उमरावों न भी खड़े होकर महामात्य का साथ दिया। उत्सव भवन के बाहर भारी भीड़ में शोर हुआ कि वृद्धा को बोलने दिया जाय। राजकुमार ने कहा कि जब बुढ़िया किसी सत्य बात से उन्हें अवगत कराना चाहती है तो रोका क्या जाय ? आज का दिन तो विकृतियों को नष्ट करने का ही दिन है। सब चुप हो गये वृद्धा बोलने लगी, 'प्रभो ! महाराजाधिराज सुविनिय जी के समय की बात है। एक दिन जब म अपने पति के साथ (मूरत की ओर इंगित करते हुए) इसी बेटी की सोलहवीं वर्ष गाठ मना रही थी कि 'महामात्य गरज उठे, 'पागल है ले जाओ इसे यहाँ से।' सम्राट् ने भी आज्ञा दी कि वृद्धा को पागलखाने पहुँचा दिया जाय और योग्य चिकित्सा का प्रबंध करवा दिया जाय।' उधर मूर्तिकार नागदत्त दान किट किटाकर वृद्धा को लाल आंखों से देखने लगा। बाहर से आवाजें आई, 'मा को बोलने दिया न को बोलने दिया जाय' जब राजकुमार के कानों म 'मा' शब्द टकराया तो उन्होंने महामात्य को रोका और कहा कि वृद्धा को बोलने दिया जाय। महामात्य असहाय से हाथ मलते बैठ गये। सम्राट ने हस्तक्षेप नहीं किया। वृद्धा बोलने लगी, 'तो हम जब बिटिया की वर्षगाठ मना रहे थे कुछ अनजाने लोगों ने यकायक हमला किया और बिटिया को उठा कर ले भागे। बहुत खोजने के बाद पता लगा कि वह किसी बलशाली गिरोह के कठिन कारागृह म बन्द है। उसे बाहर निकाल लाना किसी के भी वश की बात नहीं है। मेरे पति नागदत्त के पिता ने ' सब लोग मूर्तिकार नागदत्त को आश्चर्य से देखने लगे। राजघराने की आखें भी नागदत्त को घूरने लगीं। नागदत्त उद्भ्रान्त स्वर में चिल्ला उठा, 'मा मा तू यहाँ क्यों आई ? शर्म नहीं आती, सम्राट् का अपमान करती है, किसने तुझे यहाँ भेजा है ? (सम्राट् की ओर) सम्राट क्षमा करना इसका मस्तिष्क ठीक नहीं है म मा के लिये प्राणदान की भीख मागता हूँ।' राजकुमार शीघ्र बोल उठे, 'नागदत्त, हम तुम्हारी मा की बात सुनेंगे (महामात्य की ओर) महामात्य इस रहस्यमय कथा को

दो। इससे राज सुसम्पन्न होगा।' महामात्य ने अधीरता से मुड़कर कहा, 'प्रियकुमार! मुझे आशंका है कि कहीं इससे राजपथ अपमानित न हो जाय।' फिर महामात्य सम्राट् की इच्छा जानने के लिये उनकी ओर देखने लगे। सम्राट् ने राजकुमार का मन रखते हुये कहा कि मर्यादा का ध्यान रखते हुये बुढ़िया को बोलने दिया जाय। वृद्धा बोलने लगी 'सो नागदत्त के बाप ने लाख जतन किये, किन्तु मेरी बेटी नागवल्लरी वापस न लौटी, न लौटी। उसके कई दिनों बाद पापियों ने उस एक दिन वृक्ष पर अर्द्धनग्न अवस्था में लटका दिया और जलती मशालों से असह्य वेदनाएं पहुँचाते हुए उसके प्राण ले लिये। इस घटना का मुख्य कारण यही था कि उसने उस कारागृह से सहस्रों सुन्दरियों को एक रात मुक्ति दिलवा दी था। वह स्वयं भी भाग निकलती, किन्तु गुप्तचरों ने उसे पकड़ लिया। महामात्य क्रोध से काँप रहे थे। ऐसा लगता था मानो उन्हें जैसे कोई भालों से गोद रहा हो। सम्राट् भी आश्चर्य, क्रोध और कुतूहल की सम्मिलित भावनाओं से उद्विग्न होते जा रहे थे। राजकुमार पथी दृष्टि से वृद्धा को देखते हुये किसी गहराई में जैसे उतर रहे थे। उनकी आँखों में उत्सुकता भी साथ तैर रही थी। वृद्धा ने उग्र स्वरों में मूर्तिकार नागदत्त को सम्बोधित किया, 'बेटा नागदत्त! तुम नहीं जानते। मैं तुम्हें आज सब कुछ बताऊँगी। कई दिनों से सोच रही थी कि तुम्हें कुछ बताऊँ किन्तु प्रिय राजकुमार के परिपक्व हो जाने की राह में देख रहा था। आज समय अनुकूल है।' उसने एक क्षण का अवकाश लिया फिर अधिक उत्तेजित होकर बोलने लगी, 'बेटा, अच्छे कामों से राज्याश्रय नहीं मिला करता। राज्याश्रयों के पीछे भी बड़े बड़े रहस्य होते हैं। (मूरत की ओर) इस मूरत को तेरा बाप भी बनाया करता था किन्तु लाचारी वश मौन थे डर से। और कुछ न मालूम होने से, इस मूरत को बनाने में तू अपना गौरव समझता चला आ रहा है। बेटा यह मूरत तेरी उसी बहिन की है' नागदत्त पागल की तरह चिल्ला उठा, 'मां! क्या यह नागवल्लरी की मूरत है?' महामात्य ने अधीर होकर कहा, 'सम्राट् रोकिए, मर्यादा टूट रही है। निवेदन है रोकिये।' सम्राट् भी तमतमा उठे। राजकुमार ने फिर भी सुनने की ही उत्कंठा प्रकट की। वृद्धा की वाणी वेगमयी हो उठी। वह दृढ़तापूर्वक से बोलने लगी, 'हां बेटा यह नागवल्लरी ही

है। तू इसे बड़े चाव से बनाता चला आ रहा है। अपराध तेरा नहीं है। मैंने ही तुमसे यह सब छुपा रक्खा था। मैं इसी दिन के लिये जी रही थी। आज सचमुच मेरी जिन्दगी सार्थक हुई। यह नहीं करती तो न जाने कितनी पीढ़ियों तक तेरी बहिन और हमारे कुल का अपमान होता रहता और तू ऐसे ही मतवाले अपने आपको गल्या भरी मानकर न जाने कब तक अपनी ही साथ अत्याचार करती रहती।' कलाकार नागदत्त की आँखें चमक उठीं। फिर आँखें सजल भर आईं। वह उठा और नागवल्लरी की मूरत के चरणों में माथा धरकर सिसकियाँ छोड़ने लगा। सारी सभा स्तब्ध थी। मञ्च पर राजरानी कीलित था। महामात्य गौरव से उठे। उन्होंने तमतमाकर तलवार को आधा खींच लिया और आदेश की प्रतीक्षा में सम्राट् की ओर मुखातिब हुए। वृद्धा रुकी नहीं। वह बोलती गई, 'बेटा! उठो एक बार और सुनलो—अन्तिम बात। इसी अंतिम बात में मेरी मौत छुपी हुई है।' नागदत्त ने मूरत के चरणों से भाल ऊपर उठाया। उसकी आँखों के कटोरे क्रोध, शोक पश्चात्ताप और हर्ष मिश्रित आंसुओं से भर पूर थे। 'वृद्धा बिजली सी कड़क उठी, 'बेटा! वृद्ध महामात्य सब जानते हैं। (दांत किटकिटाकर) हां, यह बूढ़ा रत्ती रत्ती जानता है। सम्राट के लिये नहीं कहता, वे उन दिनों नासमझ थे। इनसे सब कुछ छुपाकर रक्खा गया है। हाँ तो कान खोलकर सुनलो उस सारी घटना के पीछे और कोई नहीं महाराजाधिराज सूर्यविजय ही थे। सच कहती हूँ वे सुन्दरियों के प्यासे थे।' महामात्य ने तलवार खींचली और मतवाले मतंग की तरह वृद्धा की ओर दौड़ पड़े। सभा के राय उमराव और उच्चश्रेणी के नागरिक दहाड़ उठे, 'मारो, मारो, बुढ़िया को मार डालो' सम्राट की आँखों से ज्वालाएं बरसने लगीं। राजकुमार भय, घृणा, दया और उन्माद की भावनाओं में हतप्रभ से दीखने लगे। श्यामा जाल-पत्रिका के पीछे विस्मय और क्रोध से राजरानियों के झुमके हिल डुल उठे। बाहर सहस्रों कण्ठ फूट पड़े, 'मां की जय! नागवल्लरी की जय!! नागदत्त की जय !!! वृद्धा के चेहरे पर भय नहीं हर्षोन्माद के आंसू प्रवाहित हो रहे थे। उसके सिर पर महामात्य की तलवार चमकी तो नागदत्त ने झपट कर महामात्य के कांपते हाथों से उसे छीन लिया। सम्राट् राजकुमार सहित संकट की इस स्थिति में

रेशमी परदे की ओट में सरक गये। पिछले दरवाजे से जनता भीतर घुस पड़ी और लोग वृद्धा और नागदत्त को बाहर निकाल लाये। महामात्य वशव देव घायल होकर मंच पर ढेर हो गये।

× × ×

इस घटना के दो दिन बाद नागदत्त और वृद्धा पकड़ लिये गये। सम्पूर्ण राज्य में आतंक का साम्राज्य स्थापित कर दिया गया। थोड़े समय बाद एक दिन आधीरात में राजकुमार कमल नयन यकायक न जाने कहाँ गायब हो गये। दौड़ धूप शुरू हो गई। नगर नगर, डगर डगर गुप्तचरों ने ढूंढने में रात दिन एक कर दिये। बीहड़ वनों, पहाड़ों कन्दराओं में खोज की गई किन्तु राजकुमार नहीं मिले। राजमहल में शोक के बादल छा गये। सम्राट् कीर्ति विजय घन दुःख में डूबकर एकान्तवासी जीवन व्यतीत करने लगे।

एक दिन सुबह जब सम्राट् सोकर उठे तो देहरी पर एक पत्र पड़ा मिला। पत्र राजकुमार का ही था। पत्र इस प्रकार था—

'पूज्य पिताजी!

मैं जीवित हूँ। अब मुझे सुख और विलास के संसार से विरक्ति हो चुकी है। राजमहलों में मेरा वास नहीं हो सकता मेरे पितामह जो कुछ कर गये, वह अत्यन्त घृणित कार्य था। उनके काले कारनामों का प्रायश्चित मुझे करना होगा। मैं इस वंश का कलंक धोऊंगा। हाँ, यदि मुझसे प्यार है तो राज्य में 'नागवल्लरी देवी' का एक मन्दिर बनवा दीजिये। कलाकार नागदत्त और उस 'मां' को कारागृह में नहीं अपने हृदय में स्थान दीजिये।

मुझे अपार खुशी है कि उस दिन वृद्धा ने आगामी सदियों को प्रेरणाएं देने के लिये, घृणित और क्रूरतम सामन्तशाही की निवृत्ति की साहस पूर्वक उपस्थित किया। 'मां' ने हमारे जन्म-जन्मान्तर के पाप धो दिये। मैं इस वक्त में नागवल्लरियों (पान की बेलों) के पास बैठा बैठा देख रहा हूँ कि अम्बर से अश्लिष्ट सस्कृति का अविच्छिन्न आलोक शनैः शनैः धरती पर उतर रहा है। जिस दिन नागवल्लरी देवी के मन्दिर की सुमधुर घण्टियों का स्वर प्रवाह की तरह बह निकलेगा, मैं उसी प्रवहमान-कलहास संगीत की उच्छल तरंगों पर सन्तरण करता हुआ एक दिन लौटूंगा। आपसे भी मिलूंगा। —हां, पर बधूंगा नहीं। माताजी को चरण स्पर्श और उस 'मां' को भी जो कारागृह में दिन काट रही होगी। कलाकार

नागदन्त को भी प्रणाम—

'कमल नयन'

पत्र पढ़कर उस एकान्त कक्ष में सम्राट् कीर्तिविजय विकल हो उठे। कुछ क्षणों तक गवाक्ष से वे नीले आसमान को देखते रहे, फिर आर्त्त स्वर में फूट पड़े, 'मैं स्वीकार है कमल, मुझे सब स्वीकार है!' और फफक फफक कर रोने लगे। जब कुछ हल्के हुए तो आवाज देकर भृत्य को बुलाया और आज्ञा दी कि महामात्य को इसी समय उपस्थित किया जाय। थोड़ी ही देर बाद महामात्य केशव देव ने लगड़ाते लगड़ाते कक्ष में प्रवेश किया। सम्राट् ने इस विषाद और रोष के सम्मिलित भावों को चेहरे पर उभार कर महामात्य को राजकुमार का पत्र दिया। फिर कुछ देर रुक रहे और बोले, 'यह सब शीघ्र हो, जाना चाहिये!' महामात्य ने रुकते रुकते कहा, 'किन्तु सम्राट !!' सम्राट् उत्तेजित हो उठे, 'आदेश का पालन हो!' नागार्जुनी केशों वाले निर्लज्ज महामात्य गर्दन झुकाकर पराजित से लगड़ाते-लगड़ाते लौट गये।

कन्फ्युशस ने कहा है—

'जैन का अर्थ मनुष्यों से प्रेम करना है। जैन से युक्त व्यक्ति अपना भरण पोषण करता हुआ दूसरों का भी भरण-पोषण करता है। अपना विकास करता हुआ दूसरों को भी विकसित होने में मदद देता है और अपने प्रति जैसे व्यवहार की अपेक्षा करता है, दूसरों के प्रति ठीक उसी प्रकार का व्यवहार करता है।'

महात्मा कन्फ्युशस का एक सिद्धान्त

प्राथना और याचना की पुकार है, वहाँ साम्यवाद के 'अधिकार दो'—शब्दों में एक आग्रह है, दबाव है, धमकी है, कि अधिकार शब्द के गर्भ में ही बलात् प्राप्ति का बीज समाया हुआ है—उसमें याचना या सुभाव की पुकार नहीं, बल्कि चुनौती से स्पंदित ललकार है।

इस विश्लेषण से निष्कर्ष निकलता है कि अपरिग्रहवाद यदि अहिंसा की छाया का प्रतीक है तो साम्यवाद हिंसा की चिल चिलाती धूप का। पर, छाया-छाया में हमें चलना है कि धूप की तीव्रता के बीच हमें पैंग पड़ना है—यह विचारणीय विषय है, और सोचते समय, निस्सन्देह, यह भी नहीं भूल जाना है कि संसार में छाया कम और धूप अधिक है। यहाँ यह कहना यदि अप्रासंगिक नहीं तो व्यर्थ तो होगा ही कि चुनाव हम इन्हीं दो में से किसी एक का करना है और अवश्य ही करना है, कि यह निश्चय करने की स्वतन्त्रता हमें नहीं है कि हम चलेंगे या नहीं—स्थिर रहेंगे, ठहरे रहेंगे, क्योंकि गति—वह चाहे प्रगति हो अथवा प्रतिगति, तो अनिवार्य ही है, जीवन का अनुल्लंघनीय तकाज़ा ही है कि हम ठहर नहीं सकते, हम चलना ही होगा, अतः मतभेद आज यह नहीं कि विषमता की वनमार्ग तम और गन्दी गलियों में से निकल, भौतिक सुख शांति सम्पन्नता की महान मंजिल की ओर हमें बढ़ना चाहिए या नहीं, बल्कि यह कि किस वाद के ऊपर में और किस मनोभूमि पर हमें कदम उठाना है-यह प्रश्न है।

× × ×

ऊपर, मैंने कहा कि चुनाव हमें इन्हीं दो में से किसी एक का करना है और अवश्य करना है। क्यों अवश्य करना है—इस पर विचार किया जा चुका है। अब, दो में से ही क्या चुनें—यह समझना है, यद्यपि कि आंशिक संकेत इस सम्बन्ध में दे चुका हूँ, फिर भी और अधिक स्पष्ट कहना प्रासंगिक ही होगा—कि सत्य के बिन्दु को परिवेष्टित करने वाली अन्यान्य भी परिधियाँ हैं, वे अस्तित्व की दृष्टि से हैं अवश्य, किन्तु, सचमुच, उनका अपना पन इतना उभरा हुआ नहीं है कि—उन्हें भिन्न भिन्न रूपों में मान्य किया जा सके, क्योंकि दस दस, बीस बीस कदम अलग-अलग चलकर वे—सभी, इन्हीं दो में से किसी एक न एक में आत्म समर्पण कर बैठती हैं—विलीन हो जाती हैं, इसीलिए मेरी धारणा है कि वे विचारणीय नहीं। अवश्य ही, आज हमारे युग में, गांधी-वाद के नाम से जिस पथ की प्रसिद्धि हुई है, और ताज़गी के कारण जिसमें आकर्षण भी है तथा जिसने जिगाहों को अपनी ओर खींचा भी है, किन्तु सूक्ष्म या स्थूल किसी भी धैर्य-दृष्टि से यदि हम देखें तो थोड़े से परिश्रम के पश्चात स्पष्ट

हुए बिना नहीं रहता कि महावीर के अपरिग्रहवाद से भिन्न गाँधीवाद की कोई अपनी स्वतंत्र अर्थनीति नहीं और सच तो यह कि अपने समूचे रूप में गाँधीवाद आर्थिक रूप से महावीरवाद के अतिरिक्त है ही क्या? आज, हमारी पीढ़ी में से कौन यह नहीं जानता कि गाँधीजी ने स्वयं कभी भी यह आग्रह नहीं किया कि उनके प्रतिपादन को मौलिक तथा नया विशेषण प्रदान किया जाय, कि उनका चिन्तन भारत के अनेकानेक प्राचीन महा पुरुषों के विचार-आधार पर ही अवस्थित है, निरंतर ही विनम्रता पूर्वक वे यह उद्घोषित करते रहे। अब, हम तो जाय कुछ अतिभावुक भक्तों का निर्दोष आवेश ही कहना चाहिए कि वे गाँधीवाद को एक सर्वथा स्वतन्त्र पथ के रूप में प्रका शित करने का मोह और आग्रह नहीं छोड़ पाते, अन्यथा, निश्चय ही गाँधीवाद अपने आर्थिक रूप में, मूलतः गीतावाद, बुद्धवाद और जैन वाद—अर्थात् भारतीयतावाद का एक सम्मिलित एवं समन्वित संस्क रण ही तो है।

तो यह निर्विवाद है कि चाहते हुए भी, प्रयत्नपूर्वक ठहर रहना हमारे वश की बात नहीं और यह भी सुनिश्चित है कि सामने हमारे सम्मुख दो हैं—दो ही हैं। दुर्भाग्य वश, विषमता उस समय और भी बढ़ जाती है कि जब एक दिशा की ओर उन्मुख खड़े पथिकों का दूसरे पथ पर स्थित यात्रियों के प्रति सस्नेह निमंत्रण होता है कि वे अपनी राह को गलत समझ लें और उनकी बगल में आकर अपनी भूल सुधार लें। और, जब यह स्नेह निमंत्रण अनुकूल प्रभावोत्पादन नहीं कर पाता तो स्वभावतया स्नेह विरोध में परिणत हो जाता है और निमंत्रण का स्थान चुनौतियाँ और अमर्यादित आरोप ले लेते हैं। फिर तो दोनों ही कैम्पों से घोषणाएँ की जाती हैं कि पुण्य केवल उन्हीं के पास है, अतः मुक्ति भी उन्हीं की सहगामिनी है, कि उद्धार, मानो, उन्हीं के तम्बू के सम्मुख पहरा दे रहा है। और, इस 'तू तू', 'मैं मैं', के बीच, चौराहे पर खड़े हम अवि शेष व्यक्तियों के सम्मुख अनायास ही समस्या आ उपस्थित होती है कि हम किस पर विश्वास करें? हमारे सजल तरल नेत्र किसकी ओर आशा भरी पलकें उठाएँ? हमारे कदम किसका अनुसरण करें—वे कदम कि जो उठने के लिए मजबूर हैं, विवश ही हैं कि जब कवि के शब्दों में चंचल हुए—सगति हुए जिनका निर्वाह है ही नहीं कि थोड़ी दूर

भी यदि वे और नहीं उठते तो लड़खड़ा जाएँगे—

'पुण्य का उधर पाप का इधर,
जिन्दगी दो कूलों के बीच,
सिंधु-सी दूर मुस्करा रही
निगल जाने को आतुर मीच,
ठहरते बने, न चलाना इष्ट,
पथिक के सम्मुख दिग्‌दिग् भ्रम!
धरा के नीचे है पाताल,
गगन पर बसा हुआ है स्वर्ग,
बीच में अधर मनुज का अहम्!'

और इस प्रकार दिग्भ्रमित, द्विविधा मग्न हम जब, भविष्य की आशा में, वर्तमान से घबरा कर अतीत की शरण में जाते हैं कि शायद वहाँ से कोई निर्विवाद हल प्राप्त हो जाए, तो दुर्भाग्यवश, निराशा ही हाथ आकर रह जाती है, क्योंकि इतिहास साक्षी है कि आज के वर्तमान की भाँति अतीत को भी ऐसे ही भ्रम में पड़कर, जब तब, दोनों ही प्रकार के प्रयोग करना पड़े हैं, इसलिए कि आखिर, आज चाहे वह भले ही अतीत की संज्ञा पा गया हो किन्तु, उस समय तो वह वर्तमान ही था, और History repeats itself—इतिहास अपना आप को दोहराता है—यदि यह सच है तो हम अपने वर्तमान को अतीत का ही पुनर्भूत रूप कहना चाहिए फिर, ऐसी स्थिति में, विगत से समस्या के समाधान की आशा मृग तृष्णा के अतिरिक्त और क्या सिद्ध हो सकेगा?

हाँ, तो रुककर, हमारा अतीत हमें जो कुछ सहायता दे पाता है, वह बस इतना ही कि हम उसके अनुभवों से यह ज्ञान कर ले सकते हैं कि दोनों वाद पक्षों में से किसका सौदा अपनाकर अधिक सस्ता है और किसका अधिक महँगा। जहाँ तक मूल्य का प्रश्न है, स्पष्ट है कि साम्यवाद या अधिकारवाद इस अर्थ में महँगा ही सदैव रहा है कि वह परशुराम की तरह पर रक्त दान चाहता है, जब कि अपरिग्रहवाद ने भी यद्यपि कुरबानी की कामना माँगी है, किन्तु स्वेच्छा दान के आत्म विसर्जन के रूप में ही। किन्तु, अधिकारवाद जहाँ कानून के रूप में महँगा है, वहाँ वह प्राप्त फल के रूप में सस्ता भी है, कि उसके माध्यम से खरीदा हुआ सौदा हस्तामलकवत् तत्काल प्राप्त होकर ही रहता है, चाहे, वह थोड़ी देर बाद किसी के ज्ञात-अज्ञात धक्के से फिर क्यों न छूट जाए और उसको दुबारा पाने के लिए पुनः उतना ही मूल्य क्यों न देना पड़े। दूसरी ओर अपरिग्रहवाद या हृदयपरिवर्तनवाद एक और मूल्य के मामले में जहाँ सस्ता और सात्विक है, वहाँ उसमें सुलभ

फल, बहुत देर में प्राप्त होकर, अनावश्यक ही सारे के सारे व्यापार को महँगा बना देता है। यों कहना चाहिये कि साम्यवाद यदि Short cut 'लघुपथ' है—टेढ़ा, काँटे कंकड़ों आँधी पानी और अन्धकार से भरा, किन्तु, जिस पर जब तब कि बिजली चमक उठती है तो मंजिल भी दीख जाती है, तो अपरिग्रहवाद Long cut 'दीर्घ पथ' है—एक दम अबाध और प्रकाश पूरित, किन्तु इतना सुविस्तृत कि मंजिल के स्थान पर दूर तक क्षितिज ही क्षितिज दिखाई देता रहता है।

कह चुका हूँ कि प्रयोग दोनों के हो किये गये हैं—बहुत सुदूर अतीत में और निकट अतीत में भी, सुदूर अतीत में, एक ओर दबाव रहित हृदय परिवर्तनवाद का प्रयोग महावीर ने किया था, फलतः आज संसार में बारह लाख तथाकथित जैन मतानुयायी हैं, और तभी उसी समय के आसपास दबाव सहित समाज-परिवर्तन का प्रयोग मुहम्मद ने भी किया था, परिणामतः संसार में दूसरी सबसे बड़ी आबादी तथाकथित मुसलमानों की है और अभी कुछ ही दिनों पहले—निकट अतीत में हृदय-परिवर्तनवाद या निवेदनवाद का प्रयोग, हमारी आँखों के सामने गाँधीजी ने किया था—अपने ही देश में, फलतः जैसा जो हमारी स्थिति है, प्रत्यक्ष ही है, और गाँधीजी से कुछ ही दिन पहले 'बलवाद' या 'अधिकारवाद' का प्रयोग, रूस में लेनिन ने किया था, फलतः, कहा जाता है कि रूस न केवल सुखी और समृद्ध ही है, बल्कि आज संसार की प्रथम शक्तियों में से एक है, अतएव प्रयोग स्वतः सिद्ध प्रमाण हैं इस सचाई का कि एक Long cut है और एक Short cut।

बस, इससे अधिक, अब मैं कुछ न कहूँगा—केवल इतना ही कि दोनों ही मार्ग हमारे आपके सामने प्रशस्त हैं। चुनाव हम पर छोड़ना है कि किस ओर हम चल पड़ें। अब, यह मेरा नहीं, आपका भी नहीं, बल्कि दोनों ही मार्गों के समर्थकों का कर्तव्य है कि वे, केवल हवाई बातों में नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष ठोस प्रमाणों के आधार पर ही हमारे आपके सम्मुख प्रदर्शित प्रेरित करें कि क्यों उनका पथ अधिक श्रेयस्कर और ग्राह्य है। जहाँ तक सद्गुणित पक्ष का प्रश्न है, निश्चय ही यह जिम्मेदारी महावीर के अनन्य अनुयायी उन जैनियों के कंधों पर है कि जो, दुर्भाग्यवश, आजतक अपने सामूहिक व्यवहार से विपरीत आदर्श ही उपस्थित करते आए हैं

और इस प्रकार लोगों को बाध्य करते आए हैं कि वे महावीर के वाद को सदैव ग़लत रूप में ही समझते रहें कि वे महावीर वाणी को आचरण की सफलता और साधना प्रदान करें और जहाँ तक व्यापक क्षेत्र का प्रश्न है, अवश्यमेव, समस्त भारत का ही यह नैतिक दायित्व है कि वह भारतीयतावाद या 'आत्म विसर्जनवाद' को आचरण की गरिमा से मण्डित कर संसार को दिशा-दान देने का प्रयत्न करें, इसलिए कि यदि ऐसा नहीं किया जाता—या यदि ऐसा किया जाना यदि असम्भव ही है तो निश्चय ही, कोई भी शक्ति, कोई भी विचार धारा, कोई भी नीति ऐसी नहीं कि जो चौराहे पर खड़ी दुनिया को सहज सुलभ साम्यवाद की दिशा की ओर उन्मुख होने से वंचित कर सके—उस साम्यवाद की ओर कि जिसका प्रत्यक्ष प्रकाश रूस और चीन के प्रांगण को दीप्तिमान् कर रहा है, और इस दुनिया को कि जो चलने के लिए अपने आपमें मजबूर है, विवश है—चंचल है!

अन्धकारमेंसे प्रकाशमें

मधुकर

जीवन को लाओ ज्योतिर्मय।
अन्धकारमेंसे प्रकाशमें।
टूटे दुस्तर रूढ़ि प्रथाएँ,
मानवकी सब घोर व्यथाएँ—
मिटा सकें वह बल हमको दो—
नव उमंग से, नई आश में।
व्यस्त त्रस्त धरती के ऊपर,
झरे शान्तिका निर्मल निर्झर,
तुम बन सत्य जगत फिर
शीतलता के नव प्रसाद में।
भौगोलिक यह भेद न मानें,
अपनी सीमाएँ पहचानें,
वसुधा बने कुटुम्ब एक फिर
हटे तिमिर अब ज्योत्स्नासमें।

संस्कृति बनाम रोटी

श्री रत्नेश 'कुसुमाकर'

(कहानीकार, कवि, पत्रकार)

हमारा देश धर्म और संस्कृति प्रधान रहा है। यहाँ अनेक वादों, मतवादों, मत मतान्तरों ने जन्म लिया, वे विकसित, पुष्पित, और फलित भी हुए और अपनी चमक दमक छोड़कर इतिहास और शोध की वस्तु बन गये। काल के गत्यात्मक प्रवाह में यही धर्म, यही संस्कृति अपनी गरिमा अक्षुण्ण रख सकी, जो सत्य के सतत अन्वेषण की मूल प्रवृत्ति पर आधारित था। यही कारण है कि जहाँ अनेक संस्कृतियों के भग्न खण्डहर बन गए, वहाँ भारतीय संस्कृति के मंदिर का कलश आज भी अपनी हिरण्मयी आभा से विश्व को आलोकित कर रहा है। इतिहास साक्षी है, पश्चिमोत्तर सीमान्त और सामुद्रिक मार्ग से यहाँ विदेशी आक्रमणों के कई आँधी, तूफान और बवण्डर उठे, किन्तु अन्त में भारतीय जीवन और संस्कृति के प्रशान्त महासमुद्र में बुदबुद के समान उनको विलुप्त हो जाना पड़ा।

तर्क और विज्ञान का हमारी संस्कृति ने कभी विरोध नहीं किया, लेकिन जैसे जैसे समाज नियन्ताओं ने अपने स्वार्थ को दीर्घजीवी रखने के लिए संस्कृति का मनमाना अर्थ लगाना प्रारंभ किया, बस, यहीं से वह विकृति बन गई। संस्कृति के निर्मल जल में वर्ग वैषम्य के कीड़े बिलबिलाने लगे। शासक और शासित, शोषक और शोषित इन दो दलों में सारा समाज बँट गया। पहले गुण और जन्मजात प्रतिभा का विशेष स्थान था, अब वर्ण विशेष में जन्म को प्रधान स्थान दिया जाने लगा। इस विभेदात्मक प्रवृत्ति ने व्यक्ति और समाज को संकुचित बना डाला। इसका प्रभाव कला कौशल और आर्थिक स्रोतों पर भी पड़ा। धन की पूजा होने लगी। कट्टरता ने आसन जमा लिया। कर्नल इंगरसोल के शब्दों में इसकी सहज प्रतिक्रिया यह हुई कि "शताब्दियों तक स्वतन्त्र वाणी को परमात्मा के लिए अप

मान नरक समझा गया। ईमानदारी से अपने विचार प्रकट करने से बढ़कर कोई बात अधिक 'आस्तिक' नहीं समझी गई। युगों तक बुद्धिमानों के मुँह सिले रहे। जिन मशालों को सत्य ने जलाया था, जिन्हें साहस ऊपर उठाकर ले चलता था, वे रक्त में बुझा दी गई।" इस प्रतिक्रिया के युग को देश के [illegible] ने अपना मन तुच्छ दान पर चढ़ाकर भी टिकाये रखा। किन्तु बाद में गौतम और महावीर ने इस नीरव मृत्यु का [illegible] किया। वे नया उत्साह, नई वाणी और नई दिशायें लेकर सामने आये। सादा जीवन, उच्च विचार, सरलता और मृदुता, कथनी एवं करनी का साम्य उनके विद्रोह का आधार शिला थी। फल यह हुआ कि समाज की विचारधारा ने एक नया मोड़ लिया और इन तत्वों को अपना लिया। पर यह क्रम अधिक काल तक नहीं टिक सका। राजनैतिक उतार-चढ़ाव और आर्थिक-क्रान्तियों की सक्रियता ने इसमें भी अनैतिक तत्वों का जहर घोल दिया। भिक्षु संघों में व्यभिचार फैलने लगा। उनमें चारित्रिक सम्पत्ति न रही। उनका खोखलापन (शीघ्र ही सचाई बनकर) सामने आ गया। प्रदर्शन और कर्मकाण्ड मुख्य हो गये। इस प्रकार सारा सांस्कृतिक जीवन अवनति और इन्द्रजालिक माया के धूम्रपथ पर दौड़ लगाने लगा। इसकी फलश्रुति हमें आंग्लकाल की पराधीनता के रूप में उपलब्ध हुई।

किन्तु युग-चेतना के ज्वार ने इसकी कड़ियों के बंधन टूक-टूक कर दिये हैं। आज तो हम हमारी संस्कृति का नया अर्थ और नया रूपविधान स्थिर करना है, ताकि अंगुलियों के पोरों पर मुश्किल से गिने जा सकने वाले 'मगरमच्छों' के स्वार्थ-जाल में समाज की अगणित मीनें फँस न सकें। और न अवसरभागियों, तथा श्रम से कतराने वाला एक विशिष्ट वर्ग ही इसे अपने एकाधिकार की वस्तु मान लेने की गलती दुहराएँ।

संस्कृति की पहचान समाज के रहन सहन, आचार विचार और उसके ढांचे से होती है। जहाँ एक लाख के पीछे एक हजार गुलछर्रे और चैन की बंसी बजावें, शेष मुट्ठी भर दाने के लिए दम तोड़ते हों, वहाँ संस्कृति का स्वरूप यदि गर्हित, विरूप तथा रुग्ण मिले तो आश्चर्य ही क्या! संस्कृति की सांस स्वाधीनता है। और स्वाधीनता का अर्थ परिश्रम और पुरानी वस्तुओं का नूतन मापदण्ड निर्धारित

करता है। जहाँ तक संस्कृति का व्यापकता का प्रश्न है, यदि वह मानव की मूल समस्याओं का समाधान नहीं करती तो अपना अस्तित्व ही गवाँ देगा। संस्कृति में संस्कृत बना मानव असंस्कृत हो जायगा। और असंस्कृत मानव, मानव नहीं होता, दानव होता है।

आज का ज्वलन्त प्रश्न है रोटी। रोटी के दो अक्षरों का जोड़ा है, इन दो अक्षरों में कई शक्तियाँ की लपलपाती ज्वालाएँ छिपी बैठी हैं। जीवन का कटु सत्य है कि जब पेट खाली होता है, तब न तो धर्म की बातें सुहाती हैं और न संस्कृति के उपवन में ही मन सैर करने को कहता है। पेट की आग में विश्वामित्र जैसे अचल तपस्वी तपोधनी को जब चाण्डाल के घर में घुस कर श्वान की टाँग खा लेने को उद्यत कर देती है, तब जनसाधारण की भूख और उसकी कराालता, क्या नहीं करा सकेगी। रूस की राज्यक्रान्ति के मूल में भूख ही थी, जिसने इतिहास के लौह मोटिह को एक नई गति दी। अतः यदि संस्कृति रोटी की समस्या हल नहीं करती है, तो उसकी उपयोगिता ही नष्ट हो जावेगी।

जहाँ तक सांस्कृतिक क्रान्ति के लिए पृष्ठभूमि तैय्यार करने का सम्बन्ध है, "यत् सत् तत् क्षणिकम्" जो है वह क्षणिक है, नश्वर है—के नारे से हम बचना होगा। नहीं तो यह एक ऐसा मनोभूमिका निर्मित कर देगा, जिसमें दुनिया बदलने की निष्ठा समाप्त होकर एक प्रकार की पलायनवादिता आ जायगी। यह पलायनवादिता एक स्पष्ट खतरा है।

एक नई राष्ट्रीय संस्कृति के निर्माण में हमें जुटना है। इसकी आधार शिला के रूप में शारीर श्रम की प्रतिष्ठा जब तक नहीं की जाता, रोटी की समस्या नहीं सुलझेगी। और जब तक रोटी का सब सुलभ हल प्रस्तुत नहीं होता, कोई भी संस्कृति जीवित नहीं रह सकती। अतः श्रम देवता के आगमन में सम्मान और भाव के प्रवेद दीपक संजोने के लिए हम सन्नद्ध होना है, तभी नई संस्कृति का आलोक मानवता के उभय पक्ष को प्रशस्त कर सकेगा।

रूढ़िवाद का आग्रह छोड़िये ।

छाइली प्रसाद मेठा
शान्तिर विचारक, सम्पादक 'मज़दूर

हिन्दुस्तान के पिछले सदियों के इतिहास ने हमें यह मानने को बाध्य किया है कि रूढ़िवाद ने हमारा बहुत कुछ सत्यानाश किया है।

कुछ मानस शास्त्रियों ने समय और परिस्थिति के अनुकूल समाज को व्यवस्थित करने के लिए कुछ परिपाटियों का निर्माण किया था। एक एक परिपाटी हमारी उस समय की समस्याओं का समाधान था। उसमें सामयिक विज्ञान का गुथन थी। ऐसी एक नहीं सैकड़ों परिपाटियाँ, रूढ़ियाँ या परम्पराएं जो समय के अनुकूल थीं।' आज वे घातक हैं। उनमें वर्तमान के अनुकूल परिवर्तन करने की परम आवश्यकता है। क्योंकि इन रूढ़ियों की आत्मा तो मर चुकी। अब बन्दरी के बच्चे की तरह उनके मृत शव को छाती से चिपकाये फिरने की कोई जरूरत नहीं है।

देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार जो राष्ट्र आवश्यक परिवर्तन अपनी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और जीवन नीतियों में नहीं करता, वह पीछे रह जाता है, जमाना आगे बढ़ जाता है। युग किसी का इन्तजार नहीं करता।

किसी की भी गुलामी क
भयङ्कर रूढ़ियों की दासता नहीं
रूढ़िवाद जिसको हम कभी
दकियानूसी या पुरातन या लकी
का—फकीर आदि नामों से पुकारत
इसने हमको इस तरह जकड़े रखा
छटपटा कर हजारों परिवार मौत
मुँह में चले गये।

रूढ़िवाद की तह में कुछ लो
के स्वार्थ, प्रभुत्व, अहङ्कार और
भी पलने लग गये। उन गि
के लोगों ने अपनी जगह सु
रखने के लिए दूसरे लोगों को
शाला में पहुँचा दिया। इन सम
व्यवस्थापकों ने समाज के साथ
निर्दयता का बर्ताव नहीं किया
लोग चाहते तो कभी भी इस मर
जुगी धारा की ओर जाने से
भाइयों को रोक सकते थे। ऐसा
समय इन लोगों ने नहीं किया।

जब समय ने समाज के मुँह
तमाचा लगाया तब लोगों को कुछ

ऐसी हालत है कि [illegible]दिखनूर्ण और सत्ता लोगों में सीमा [illegible] सी हुई है। यह लज्जा के मन में गड़े हो गए हैं। आपस में राग द्वेष उत्पन्न हो गए हैं। समाज में नाम [illegible] कार्यों की व्याप्ति होती जा रही है। परस्पर के द्रोह इतना [illegible] है। [illegible] विचार, यह मद, यह मलिनताएं [illegible] बढ़ती चली जा रही हैं। यदि कोई ध्यान से अध्ययन करे तो उसे दिखाई देगा कि समाज की जड़ों में ऐसे सूक्ष्म कांटा [illegible] ओं के दल इस उसे खोखला बना [illegible]ते जा रहे हैं।

रूढ़िवाद ने समाज को नियन्त्रित [illegible] शक्ति को तो लागू और उन्नत कर दी दिया लेकिन उसको शरीर श्रमार, [illegible] अंग-चंगे और क्रान्ति के कटीले तीर, समाज की छाती पर जमा लिये।

रूढ़िवाद ने जीवन को विभाजित कर कई छोटे-छोटे टुकड़े बना लिए। उनकी सीमाओं से बाहर निकलने का तुम्हारा जीवन छिन्न भिन्न हो जाता [illegible] भय और अभाव ने मनुष्य को [illegible] ही भीतर [illegible] दिया गया है। इसकी सबसे [illegible] मनुष्य सामाजिक जीवन विनाश हो चुका है।

रूढ़िवाद ने मनुष्य के मन में इतनी मोटी जंजीरें डाल दी हैं कि वह उनमें बंधा हुआ तड़पता रहा है।

हमारे लिखने का यह बिलकुल अर्थ नहीं है कि समाजगत नैतिक आचारों को मिटाकर समाज को उच्छृंखल हो जाना चाहिए। मर्यादाएं तोड़ डालनी चाहिए। या हम सब को स्वतन्त्र पशु के समान आचरण करना चाहिए। हमारा तात्पर्य तो सिर्फ इतना ही है कि रूढ़ियां में जो सड़ गल गया है, इसलिए उसमें समाज के अनुकूल, नवीन सामाजिक रचना का सूत्रपात करना चाहिए।

जो रूढ़ियां समाज की आत्मिक और नैतिक शक्ति को क्षीण कर रही हैं, उनको समाप्त कर देना चाहिए। नया युग है, इसलिए नया ही मार्ग बनाने की ओर अग्रसर होना चाहिए। जिससे आगामी पीढ़ियां भी यह रूढ़िवादिता का विनाशक [illegible] न [illegible]।

फलभूत आधार, जिनका गहन चिन्तन और प्रतिपादन प्राचीन तत्त्वदर्शियों ने किया है, उनके आधार [illegible] करना [illegible] चाहिए और [illegible] के [illegible] [illegible] जा रहे हैं।

अजीब सवाल

(कहानी)

चन्द्रशेखर दुबे

उदीयमान कहानीकार

हो सकता है इसके पहिले मुझे इस भिखारी की आवाज़ कर्कश लगी हो और दूसरा इस वक्त रोज मेरे घर के सामने से गाते हुये गुजरना बुरा लगा हो, किन्तु आज तो मैं कभी से पड़ा पड़ा जाग रहा हूँ और सोच रहा हूँ कि न जाने सबेरा कब होगा और कब वह भिखारी गाता हुआ आयेगा! मैं आज उसी का इन्तजार कर रहा हूँ।

क्योंकि कल रात कॉलेज में सांस्कृतिक कार्यक्रम के अवसर पर, भिखारी का कुशल अभिनय करने पर, जो मुझे पदक प्राप्त हुआ था उसका श्रेय इस भिखारी को ही था। इस भिखारी से ही मैंने सब कुछ सीखा था। या यह कहूँ तो अधिक उचित होगा कि मैंने कल रात इस भिखारी की विकृत नकल मात्र ही की थी। मगर मुझे क्या मालूम था कि, इस भिखारी की यह विकृत नकल मात्र ही, मुझे इतनी शोहरत दिलवा देगी! और मुझे एक कुशल कलाकार बना देगी! आज मेरा रोम रोम इसे दुआ दे रहा है और मैं इतनी बेचैनी से इसका इन्तजार कर रहा हूँ। मुझे मिलने वाली अप्रत्याशित सफलता ने पिछले राग द्वेष को मेरे हृदय से बिलकुल निकाल दिया है।

मगर वह भला आदमी आज अभी तक आया क्यों नहीं! उजाला होने को है किन्तु उसकी प्रभाती का स्वर मेरे कानों से आज क्यों नहीं टकरा रहा है! ऐं! शायद वह आ रहा है? हाँ हाँ यह उसी का स्वर है—'जागिये गोपाललाल भोर भई प्यारे।' मैं दूर से आते वाली इस आवाज का साथ देने लगा हूँ। आवाज नजदीक आती जा रही है। मैं बिस्तर छोड़कर जोर जोर से यह गान गुन-गुनाते हुवे, कमरे से बाहर निकल आया हूँ। हाँ हाँ वह नजदीक ही आ गया है। मैं लपक कर अपने अहाते के फाटक पर जा खड़ा

हुआ हूँ। यह भिखारी रोज की तरह अपनी छोटी सारंगी बजाते हुये, अपनी बुलन्द आवाज में यह गीत गाता हुआ चला आ रहा है। उसकी सारंगी की मधुर आवाज के साथ बजते हुए घुँघरूओं की हर भनक पर, मेरा दिल नाच नाच उठा है। मैं सोचता हूँ यह कितना अच्छा बजाता गाता है। मैंने कल रात क्या खाक बजाया गाया था? काश मैं भी इसी तरह गा बजा सकता! कितना आलाप लेता है, यह—'जागिये गोपाललाल भोर भई प्यारे'—कहते हुये। बूढ़ा हो गया है, मगर इसकी आवाज में कितनी मिठास है?

अब यह मेरे बिलकुल नज़दीक आ गया है। आज मेरे मुँह से सहसा निकल पड़ा है—बाबा! तुम्हारी आवाज़ में कितनी मिठास है!

बाबा मेरी बात सुनकर गाना बन्द कर सहज हँस उठा है। कहता कुछ नहीं। कुछ देर तक उसे एकटक देखने के बाद मैं पूछ बैठा हूँ—बाबा मेरी बात सुनकर तुम हँसे क्यों? क्या तुम्हें खुद को अपना गाना पसन्द नहीं?

बाबा फिर हँस दिया। मगर इस बार बोला भी—भैया, कैसा गाना वाना! पेट भरने का बहाना है।

मुझे बाबा की यह निराशापूर्ण बात अच्छी नहीं लगी। इसलिये मैंने इस बात को यहीं खतम कर कहा—बाबा मैं कल रात के खेल में बड़ा कामयाब रहा। लोगों ने मेरी बड़ी तारीफ की। मुझे मैडल मिला।

बाबा हैरत से मेरी बातें सुनने लगा मैंने मनी बैग से दस का नोट निकालकर, उसके हाथों पर रख दिया और बोला—बाबा इस कामयाबी का सेहरा तुम्हीं हो। तुम्हारे गेरुए कपड़ों ने मुझे बिलकुल तुम्हारे जैसा बना दिया था। और जब मैंने तुम्हारी झोली वगैरा लटका ली थी तो हूबहू तुम जैसा ही दीखने लगा था। तुम्हें यकीन नहीं होता, न? मैं अपना उस वेश का फोटो जब तुम्हें दिखलाऊँगा तो तुम भी मुझे नहीं पहचान सकोगे। मेरे सब जान पहचान वाले और रोज मिलने वाले तक भी मुझे स्टेज पर यकायक पहचान नहीं पाये थे। अभी फोटो तैयार नहीं हुआ है। मैं तुम्हें जरूर दिखलाऊँगा। मगर बाबा मैं तुम्हारे जैसी सारंगी नहीं बजा पाया और न तुम्हारे इस गीत को इतना उठा ही पाया। लेकिन इससे कोई हर्ज नहीं हुआ बाबा। मेरा काम लोगों ने बेहद पसन्द किया। खूब तालियाँ पिटी गईं। मेरे बराबर फोटो लिये गये। मेरी

तारीफ न गई। पदक दिये गए। यह यावा, म गाना म बिलकुल ह गया। मुझ पर मरी कामयाबी का नशा सा चढ़ रहा है। अदर आयोना ! बाबा सुन रहा मरी बातें सुन रहा था। अब वह बोला—भया, एक बात पूछूँ ?

मैंने कह दिया—हाँ हाँ एक नहीं हजार बातें पूछो। आज म बहुत खुश हूँ। शरमाओ नहीं क्यों कि आज कहते हो तो लो और कुछ ले लो।

बाबा यह सुन घबराकर बोल उठा—नहीं, नहीं। यह बात नहीं है। म यह नहीं

मगर मने उसके मना करने पर भी दस का नोट, उसके हाथों पर आखिर रख दिया। और मुस्कराते हुये बोला—अच्छा यह बात नहीं है तो क्या बात है, पूछो ?

बाबा हिम्मत कर अब बोला—भैया मुझ तुम्हारा सब रंग ढंग अनोखा लग रहा है। मुझ तुम्हारी कुछ भी बात समझ म नहीं आ रही है। पहले म ही—तुमने जब कपड़े वगैरा मुझसे माँगे थ, तभी से—मेरी समझ म कुछ नहीं आ रहा है। मगर पूछने की हिम्मत नहीं हुई भैया। और आज व इतने रुपये पाकर तो मेरी रही सही अक्ल भी गुम हो गई है। और इस पर ये तुम्हारी अजीब बातें ! गेरुए कपड़े पहनकर, झोली लटका कर, म। मेरी सारंगी बजा बजा कर, मेरे इस गीत को गाने पर लोगों का वाह वाह करना, तालियाँ पीटना सुबह मंडल देना, तुम्हारी तारीफ करना, तुम्हारे फोटो खींचना—ये सब अजीब बातें हैं या नहीं ? म तो रोज यही कपड़े पहन कर यही झोला लटका कर, यही गीत गाता हुआ, हर घर के सामने म, हर मौसम म गुजरता हूँ मगर मुश्किल से पेट भरने लायक आटा जुटा पाता हूँ। लोग साथ मुँह बात तक तो करते नहीं, तारीफ करना तो दूर रहा। लोग घर के सामने खड़े तो रहने नहीं देते "आगे बढ़ो" का नारा लगाते लगते हैं। फोटो लेना तो दूर की बात है। म गाता हुआ गुजरता हूँ तो लोग कहते हैं—यह बुड्ढा मेरा सुबह सुबह चिल्लाकर नींद हराम कर देता है। तुम खुद भी शायद पहले यही कहते थे न ? मगर भैय्या अब तुम्हें न जाने क्या हो गया है ? तभी तो कहता हूँ, मुझ तुम्हारा रंग ढंग अब समझ म नहीं आरहा है।

बाबा यह कहकर चुप हो

(शेष पृष्ठ ८० पर)

ओ विहार, शुभ वसुन्धरे-अतिवीर-प्रसू-वर

हरिप्रसाद 'हरि'

सुरपुर से भी आज अलौकिक वर विहार है,
बहती रहती जहाँ शांति की सरस धार है।
भूपर भी है अमर लोक आलोकित होता,
भरे जहाँ सुख सलिल मनो वर निर्मल सोता।

कुन्दनपुरि भी आज कला की केलि-कुञ्ज है,
अलकापुरि से रम्य याकि न वन निकुञ्ज है।
जहाँ उर्वरा धरा सदा धरती हरियाली,
व्यक्त कर रहे हैं नव पल्लव नूतन लाली।

सजी वाटिका जहाँ नाटिका सा पट ओढ़,
हँस उठते हैं फूल जहाँ धीरज सा छोड़।
कहीं भार से दबी जा रहीं डाल डाल हैं,
दानवीर खड़े हुए दिखते रसाल हैं।

मग-मग में कर रहे विटप-वट निर्मल छाया,
नग-नग पादप-पुञ्ज दिखाते निज-निज-माया।
चलती सुरभि-समीर मञ्जु बाँसुरी-बजाती,
गली-गली हर-कली मोद से है-खिल जाती।

मिल जाती हैं मधु-मलिन्द की मोहक तानें,
लग जाती हैं मीठे-स्वर से कोयल गानें।
त्रिविध विहंगम गा उठते रसमय विहाग हैं,
जग जाते जगती पर जितने मधुर राग हैं।

आज स्वर्ग की भी तो प्रतिमा मन्द हुई है,
भू-सौरभ से स्वर्ग सुरभि निर्गन्ध हुई है।
अमर-लोक भी तो होता जाता है सूना,
बढ़ता जाता है भू का गौरव दिन दूना।

जब से त्रिशला ने सोलह सपने देखे हैं,
सोते में ही सजग भाग्य अपने देखे हैं।
अमर लोक में भी फैली यह खुशहाली है,
जगपति को ही जग-जननी जनने वाली है।

स प्रमोद इस मोदमयी चर्चा को सुनकर,
उमड़ पड़ा सुर लोक सभी आने को भूपर।
ओ, बिहार! वर वसुधर " तू इसी पात्र है,
अलकापुरि की सुन्दरता कल्पना मात्र है।

यह उठती कल्पना उठा खिलती-कलियों से,
झूम रहे मुख चूम रहे प्रेमी अलियों से।
मैं भी लेकर फूल गोद अपनी भर लूँगी,
चित्रित सी हो, चित्र देख, झुक मुख-चूमूँगी।

गोदी का जब लाल किलक खिल हँस जायेगा,
तब आशाओं का नवीन जग-बस जायेगा।
मेरे भी अन्तर के इस सूने उपवन में,
कोलाहल से रहित सुखद इस राजभवन में।

माँ, ओ माँ! यह प्यारा शब्द प्रवाही होगा,
तब कितना आनन्द सुधारावाही होगा।
विविध भाँति क्रीड़ा करना हँस खेल मचलना,
धीर धीर धरणी पर गिरना फिर चलना॥

वह मिठास से युक्त और अव्यक्त अमोली,
कितनी मोदमयी होगी वह तुतली बोली।
रोने में भी कितने गीत भरे प्रिय होंगे,
देने को सन्तोष कल्पनामय हिय होंगे।

इस प्रकार यह विविध कल्पनाओं के धन से,
रानी होती धनी पुलकती अन्तर मन से।
अपने में ही सोच अतुल जो आनन्द पाती,
लघु लेखनी भी लिखने को सहसा-रुक जाती।

—(अप्रकाशित 'महावीर' महाकाव्य से)

सम्पादकीय—

संस्कृति का प्रश्न आज की परिस्थितियों में बुनियाद का प्रश्न है। हम चाहे भौतिक वादियों की आँखों में तरक्की के किसी भी आसमान पर क्यों न पहुँच जायें। किन्तु यदि सार्वजनिक और वैयक्तिक जीवन का नींव में—आध्यात्मिक शिलाओं का बल नहीं होगा तो हमारी गुम्बज का गौरव भौतिक तत्वों के हलके से झोंके से धराशायी हो जायगा। तो यह जरूरी है कि हमारे आध्यात्मिक उत्थान के प्रासाद की शिलाएं मजबूत और वजनदार हों।

वे जो ऊपर से मौन रहते हैं और भीतर से निर्मल और विमल होते हैं, इस तरह के उत्थान मुखी महान की पहली शिला होते हैं। संस्कृति के चरण चिन्ह, संस्कृति के पैमाने इन्हीं महापुरुषों की जीवन क्रियाओं द्वारा बनते हैं। ये ही वे व्यक्तित्व हैं जिनमें धरती सा धैर्य और आसमान सा औदार्य रहता है।

वर्द्धमान जिन्दगी की सबसे बड़ी ऊँचाई है। वे उस शिखर के प्रतीक हैं जहाँ हमें अपनी सम्पूर्ण त्रुटियों की आलोचना के साथ निरन्तर विमल होते हुए पहुँचना है। विश्वास रखिये—जैसे ही हम यह मंजिल हारे हमारा पतन हमारे सामने मौत-सा मुंह बाये खड़ा होगा।

सुकरात ने मौत से मुकाबला किया, वे जीते और दुनिया ने उनसे सीख ली। गौतम ने करुणा की बरसात की, और दुनिया को अहिंसा का पानी पिलाया, सभी हरे भरे हो उठे। इसी तरह महावीर ने भी इन सबसे पहले एक ऐसा गंभीर स्वर घोष किया जिससे सबका मन का मैल कटा, उन्हें पास-पास किया उनपर करुणा अहिंसा और अपरिग्रह का रंग छिड़का, सब प्रफुल्ल हो उठे। उद्धारक की ममता जितनी इन प्रतीकों में जीवित है, उतनी माता और उसके प्रसूत सुत में छोड़कर सम्भव है कहीं भी देखने को न मिले।

तो, अब हम अपनी सम्पूर्ण भौतिक सुविधाओं को छोड़कर, संसार की विविध परिग्रहवादी चिन्ताओं, मार्क्सवाद, समाजवाद, साम्यवाद, गांधीवाद, को

छोड़कर अ परिग्रह और त्याग के उस आश्रय को ग्रहण करें जिसकी नींव पाताल में है। इसके अतिरिक्त शेष जितने हैं पानी के बुलबुले और मरुस्थल की मरीचिका से अधिक नहीं हैं। संस्कृति की बुनियादी मान्यता यही है कि हम बाह्य की अपेक्षा अन्तरंग को ही अधिक समृद्ध और वैभवशील बनायें। जो बाहर से जितना साफ सुथरा होगा, वह दुनिया की आंखों में उतना ही ऊंचा उठेगा। अब वर्ष की सालगिरह पर इससे अधिक सुन्दर और निर्मल मन होना क्या होगा कि हम बाहर भीतर से साफ सुथरे बन मानवता को अपने आप में अधिक से-अधिक खिंचें और जग की जिन्दगी के अत्यन्त निकट कर दें।

(पृष्ठ ७६ का शेष)

गया। मेरे मुँह से कोई जवाब नहीं निकला। बाबा समझा कि मैं नाराज हो गया हूँ। इसलिये वह हाथ जोड़कर कहने लगा—भैय्या मूरख आदमी हूँ। कोई गलत बात कह गया हूँ तो मूरख समझ कर माफ करदो भैय्या।

अब मुझे कहना पड़ा—नहीं नहीं बाबा, मैं नाराज कतई नहीं हुवा हूँ। बल्कि तुम्हारे इन टेढ़े सवालों ने मेरी जबान बन्द करदी है। छोड़ो इन बातों को। आओ तुम्हारा सामान लेलो।

मैं आगे आगे हो लिया हूँ व बाबा मेरे पीछे पीछे। मगर मैं सोचता जा रहा हूँ कि बाबा के इस अजीब सवाल का क्या जवाब दूँ?

प्रकाशकीय—

निश्चय ही हम भगवान महावीर का जन्म दिवस एक लम्बे अर्से से मनाते चले आ रहे हैं। इन्दौर में इस पुनीत परम्परा का सूत्रपात का श्रेय बाबू सूरजमलजी जैन को है। बाबूजी ने, अपनी अपूर्व प्रतिमा और तेजस्विता से उन दिनों जबकि सार्वजनिकता का जैनधर्म के सिद्धान्तों में कोई विश्वास न था, विविध कठिनाइयों के बावजूद भी वीर जयन्ती मनाने की परिपाटी का शिलान्यास किया। सबसे पहली जयन्ती सन् १९१७ ई में सम्पूर्ण सार्वजनिक रूप से आयोजित की गई। यह वह जयन्ती थी जो अत्यन्त सार्वजनिक स्तर पर जनता के अधिकाधिक सहयोग से मनाई गई थी। इन जयन्ती समारोहों में बाबूजी को जैन तरुणाई के अजस्र तूफान की प्रतीक श्री वर्द्धमान ज्ञान प्रचारिणी समिति से स्मरणीय सहयोग मिलता रहा।

तत्पश्चात् नवयुवकों को बाबूजी का निरन्तर मार्ग दर्शन मिलते रहने के कारण कई वर्षों तक जयन्ती के कार्यक्रम उत्साह, उमंग और आस्थापूर्वक मनाये जाते रहे। किन्तु जैसे ही बाबूजी की अपूरक और अनिवार्य क्षति हुई नवयुवकों का सम्पूर्ण जोश समाप्त हो गया, उस पर श्मशान-सी निष्क्रियता बिछ गई, एक शून्य सा बन गया और शनै शनै इस तरह अनेक कठिनाइयों से शुरू हुई हमारी यह निर्मल और बलवती परम्परा नवयुवकों के आकस्मिक अनुत्साह, प्रमाद और निष्क्रिय तत्वों से समाप्त सी हो चली।

निष्क्रियता का वातावरण अधिक दिनों तक नहीं चल सका। शून्य के ज्वालामुखी से तरुणाई की ज्वालाएं फूट निकलीं—अकर्मण्यता और गर्माहट के इन क्षणों में श्री महावीर जैन नव-युवक मंडल ने जयन्ती समारोहों में अपनी उमंगों से पुन नये प्राण फूंक दिये और यह और भी अधिक सार्वजनिक रूप से मनाई जाने लगी। तत्पश्चात् नवयुवकों के नये उत्साह में जैसे ही कोई कमी महसूस हुई, उनके जोश में कोई फर्क आया कि श्री मिश्रीलाल सोनी तथा इन्दौर और संयोगिता गंज के अन्य नवयुवकों के प्रयत्नों ने जयन्ती के कार्यक्रमों को सुन्दर सार्वजनिक रूप दे दिया।

अपने अतीत की इसी प्रतिष्ठा और परम्परा के अनुकूल पिछले कई वर्षों से इन्दौर की जैन जनता अधिक-से-अधिक प्रभावना और सार्वजनिकता के साथ इस पर्व को मना रही है। दुनिया के घूमे फिरे अनुभवी विचारक काका कालेलकर, तत्ववेत्ता विद्वान् महात्मा भगवानदीन एवं हिन्दी के तेजस्वी लेखक श्री जैनेन्द्र कुमार ने भी जयन्ती के इसी मंच से भगवान वर्द्धमान के ज्ञानदायी सिद्धान्तों की घोषणा की।

जयन्ती के इस गौरवान्वित इतिहास को स्मरण कर ऐसी कोई वजह नहीं रह जाती कि हम यहाँ सहस्रों की संख्या में होते हुए भी, उनकी अपेक्षा दो इकाइयों में भी नहीं गिने जा सकते, हम उत्साह और उमंग से अपने इस राष्ट्रीय मूल्य के पर्व को मनायें। वास्तव में हमारे प्रयत्न तो जयन्ती को अधिक से अधिक बड़े पैमाने पर मनाने के होने चाहिये और होने चाहिये कि यह पर्व अन्तर्राष्ट्रीय रूप ग्रहण कर सके।

मुझे विश्वास है कि जैन जनता सहयोग, आस्था, विश्वास, श्रम, उमंग और उत्साह के साथ इस पर्व को, इस प्रकाशन को अधिकाधिक सार्वजनिक और शानदार परम्परा देगी।

—गुलाबचन्द सोनी

विचार-कण—

१—पूर्ण अहिंसक मनुष्य ही मुक्ति पाता है।

२—जिसके हृदय में पूर्ण अहिंसा विराजती है—

[क] वह किसी मनुष्य से उसके विचारों को बदलने का आग्रह नहीं करता।

[ख] वह मनुष्य मनुष्य में भेद नहीं करता।

[ग] वह अपने विचारों को ही सत्य और दूसरे के विचारों को मिथ्या प्रमाणित करने की कोशिश नहीं करता।

[घ] उसका हृदय पृथ्वी की तरह विशाल होता है। जैसे पृथ्वी उच्चातिउच्च को और नीचातिनीच को, पवित्र से पवित्र और अपवित्र से अपवित्र को, अत्याचारी और अत्याचारी पीड़ित को, दुर्गन्ध और सुगन्ध को, उसका पेट चीरने और उस पर हरियाली उगाने वाले को अपनी छाती पर समान स्नेह भाव से खेलने-कूदने देती है, उसी तरह पूर्ण अहिंसक भी सब तरह के भावों को अपने विशाल हृदय में स्थान देता है। उसको सब तरह की बुराइयों या भलाइयों को भूल जाता है। वह केवल यह समझता है कि ये राग द्वेष से पीड़ित जीव हैं। इसलिए हो सके तो इनकी भलाई करनी चाहिए। अगर उनकी भलाई शरीर से न हो सके तो वचन से और मन से करनी चाहिए।

[च] उसकी दया चांदनी संसार की दुःखाग्नि से जलते हुए सभी प्राणियों को शीतल बनाती है।

[छ] अहिंसा के भावों से भरी हुई उसकी करुणा किरणें सभी को बल देती हैं, सबके हृदय-कमलों को विकसित करती हैं।

[ज] गुणी और निर्गुण, मूर्ख और बुद्धिमान्, ज्ञानी और अज्ञानी, स्वार्थ-परायण और निःस्वार्थ सभी अहिंसा में समभावी बने हुए उसके शान्त हृदय से कल्याणकारी आशीर्वाद पाते हैं।

भगवान् महावीर इसी तरह के अहिंसक थे। उन्होंने इसी अहिंसा का, छद्मस्थावस्था में आचरणीय और सर्वज्ञावस्था में मौखिक भी उपदेश दिया था।

काशकीय—

निश्चय ही हम भगवान महावीर का जन्मदिन [illegible]
ते चले आ रहे हैं। इन्दौर में इस पुनीत परम्परा [illegible]
पूरजमलजी जैन को है। बाबूजी ने, अपनी अपूर्व प्रतिभा और [illegible]
दिनों जबकि साम्प्रदायिकता या जैनधर्म के सिद्धान्तों में [illegible],
ध कठिनाइयों के बावजूद भी चार जयन्ती मनाने का [illegible]
। उनमे पहली जयन्ती सन १६७ ई में [illegible]
ई। यह वह जयन्ती थी जो अत्यन्त सार्वजनिक स्तर [illegible]
ोग से मनाई गई थी। इन जयन्ती समारोहों में [illegible]
न का प्रतीक थी वर्द्धमान ज्ञान प्रचारिणी [illegible]
ना रहा।

तत्पश्चात् नवयुवकों को बाबूजी का निरन्तर [illegible] रहने के
ण कुछ वर्षों तक जयन्ती के कार्यक्रम उत्साह, [illegible]
गई। किन्तु जैसे ही बाबूजी की अपूर्व और [illegible] का
ुण जोश समाप्त हो गया उस पर श्मशान [illegible], एक शून्य
बन गया और शनै शनै इस तरह अनेक [illegible] हमारी यह
ल और बलवती परम्परा नवयुवकों के [illegible] और निष्क्रिय
ई से समाप्त सी हो चली।

निष्क्रियता का वातावरण अधिक दिनों [illegible] सका। [illegible]
लामुखी से तरुणाई की ज्वालाएं फूट निकलीं [illegible] और गरमाहट [illegible]
ों में श्री महावीर जैन नवयुवक [illegible] समारोहों में
ों से पुन नये प्राण फूंक दिये और [illegible] सार्वजनिक [illegible]
लगी। तत्पश्चात् नवयुवकों के [illegible] इन्दौर [illegible]
ने जोश में कोई फर्क आया कि श्री [illegible] इन्दौर
के अन्य नवयुवकों के प्रयत्नों [illegible]

अपने अतीत की इसी प्रतिष्ठा और परम्परा के अनुकूल पिछले कई वर्षों से इन्दौर की जैन जनता अधिक से अधिक प्रभावना और सार्वजनिकता के साथ इस पर्व को मना रही है। दुनिया के घूमे फिरे अनुभवी विचारक काका कालेलकर, तत्ववेत्ता विद्वान् महात्मा भगवानदीन एवं हिन्दी के तेजस्वी लेखक श्री जैनेन्द्र कुमार ने भी जयन्ती के इसी मंच से भगवान वर्द्धमान के जीवनदायी सिद्धान्तों की घोषणा की।

जयन्ती के इस गौरवान्वित इतिहास को देखते अब ऐसी कोई वजह नहीं रह जाती कि हम यहाँ सहस्रों की संख्या में होते हुए भी, उनकी अपेक्षा जो इकाइयों में भी नहीं गिने जा सकते, कम उत्साह और उमंग से अपने इस राष्ट्रीय मूल्य के पर्व को मनायें। वास्तव में हमारे प्रयत्न तो जयन्ती को अधिक से अधिक बड़े पैमाने पर मनाने के होने चाहिये और होने चाहिये कि यह पर्व अन्तर्राष्ट्रीय रूप ग्रहण कर सके।

मुझे विश्वास है कि जैन जनता सहयोग, आस्था, विश्वास, श्रम, उमंग और उत्साह के साथ इस पर्व को, इस प्रकाशन को अधिकाधिक सार्वजनिक और शानदार परम्परा देगी।

—गुलाबचन्द्र सोनी

विचार-कण—

१—पूर्ण अहिंसक मनुष्य ही मुक्ति पाता है।

२—जिसके हृदय में पूर्ण अहिंसा विराजती है—

[क] वह किसी मनुष्य से उसके विचारों को बदलने का आग्रह नहीं करता।

[ख] वह मनुष्य मनुष्य में भेद नहीं करता।

[ग] वह अपने विचारों को ही सत्य और दूसरे के विचारों को मिथ्या प्रमाणित करने की कोशिश नहीं करता।

[घ] उसका हृदय पृथ्वी की तरह विशाल होता है। जैसे पृथ्वी उच्च-निम्न को और गुणवान-गुणहीन को पवित्र से पवित्र और अपवित्र से अपवित्र को, अत्याचारी और अत्याचार-पीड़ित को, दुर्गन्ध और सुगन्ध को, उसका पेट चीरने और उस पर हरियाली उगाने वाले को अपनी छाती पर समान स्नेह भाव से, खेलन-कूदन देता है, उसी तरह पूर्ण अहिंसक भी सब तरह के जीवों को अपने विशाल हृदय में स्थान देता है। सबकी सब तरह की बुराइयों या भलाइयों को भूल जाता है। वह केवल यह समझता है कि ये राग द्वेष से पीड़ित जीव हैं। इसलिए हमें सब की इनकी भलाई करनी चाहिए। अगर उनकी भलाई शरीर से न हो सके तो वचन से और मन से करनी चाहिए।

[च] उसकी दया की सरिता संसार की दुःखाग्नि से जलते हुए सभी प्राणियों को शीतल बनाता है।

[छ] अहिंसा के मार्ग से चमकती हुई उसकी करुणा किरणें सभी को बल देती हैं, सबके हृदय-कमलों को विकसित करती हैं।

[ज] गुणी और निर्गुण, मूर्ख और बुद्धिमान्, ज्ञानी और अज्ञानी, स्वार्थ-परायण और निःस्वार्थ सभी अहिंसा में समभावी बने हुए उसके शान्त हृदय से कल्याणकारी आशीर्वाद पाते हैं।

भगवान् महावीर इसी तरह के अहिंसक थे। उन्होंने इसी अहिंसा का, छद्मस्थावस्था में आचरण और सर्वज्ञावस्था में मौखिक भी उपदेश दिया था।